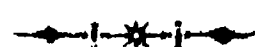
Presented to the Royal
Asiatic Society of
Bengal
by
[illegible signature]

संस्कृत साहित्य का इतिहास

द्वितीय भाग



श्री रामविलास पोदार स्मारक ग्रन्थमाला समिति

नवलगढ़

श्री रामविलास पोदार स्मारक समिति

यूसुफ बिल्डिंग, चर्चगेट

बम्बई

प्रकाशक—

जवाहिरलाल जैन, एम० ए०, विशारद

मन्त्री

श्री रामबिलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला समिति

नवलगढ़

प्रथमावृत्ति १०००

१९३८

मुद्रक—

भगवतीप्रसाद सिंह

न्यू राजस्थान प्रेस,

कलकत्ता

रामबिलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला

जवाहिरलाल जैन एम० ए०, विशारद

द्वारा संपादित

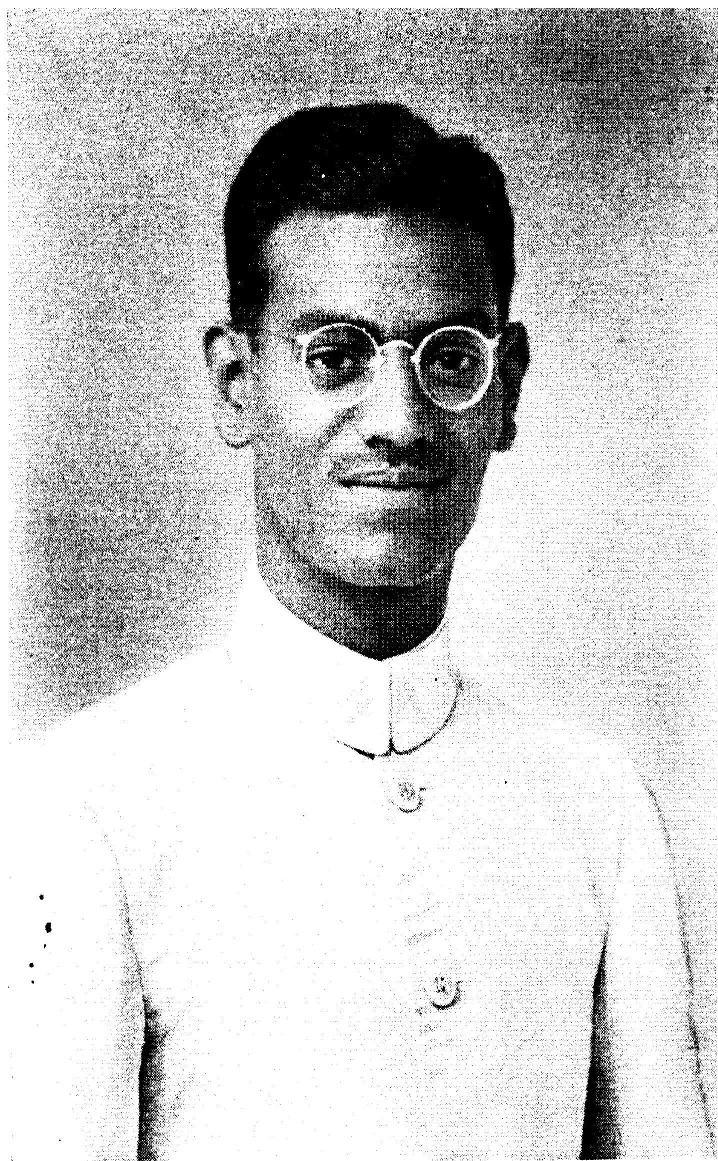
संस्कृत साहित्य का इतिहास

द्वितीय भाग

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

द्वारा लिखित

मूल्य १।)



स्वर्गीय कुँ रामबिलासजी पोदार

दो शब्द

कुँवर रामबिलासजी पोदार नवलगढ़ तथा बम्बई के लब्धप्रतिष्ठ व्यापारी सेठ आनन्दीलालजी पोदार के कनिष्ठतम पुत्र थे। उनका जन्म ३ सितम्बर सन् १९१३ को बम्बई नगर में हुआ था। 'प्रसाद चिन्हानि पुरः फलानि' के अनुसार उनकी गुण-गरिमा बाल्यकाल ही से प्रगट होने लग गई थी।

प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही प्राप्त करने के बाद रामबिलासजी बम्बई के मारवाड़ी विद्यालय हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए; वहाँ से उन्होंने मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की। इसके बाद वे सेंट जेवियर्स कालेज में भरती हुए और सन् १९३४ में उन्होंने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। इसके एक वर्ष पहिले ही कलकत्ते के मान्य व्यवसायी सेठ भूधरमलजी राजगढ़िया की सुपुत्री कुमारी ज्ञानवती से उनका विवाह सम्बन्ध हो गया था। तदनन्तर वे एम० ए०, एल-एल० बी० का अध्ययन करने लगे, पर व्यापार सम्बन्धी उत्तरदायित्व के बढ़ते जाने के कारण उन्हें अध्ययन स्थगित कर देना पड़ा।

मैट्रिक्युलेशन पास करने के बाद से ही रामबिलासजी ने व्यापार की ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था और बी० ए० पास करने के बाद तो आनन्दीलाल पोदार एण्ड को० की सम्हाल और देख-रेख का अधिकांश कार्य-भार उन पर आ पड़ा। अपने थोड़े से व्यापा-

रिक जीवन में भी उन्होंने बहुत अधिक सफलता प्राप्त कर दिखाई और न केवल फर्म के प्रत्येक विभाग की ही उन्नति की किन्तु अनेक नवीन विभाग भी स्थापित किये।

व्यापारोन्नति से अधिक महत्वपूर्ण उनकी समाज-सेवा तथा देश-भक्ति थी। अध्ययन काल में भी वे असहाय छात्रों की हर तरह से मदद किया करते थे। पुस्तकें दिलवा देना, कपड़े बनवाना या फीस आदि दे देना उनके नित्य के कार्य थे। मारवाड़ी युवकों की उन्नति के लिये उन्होंने 'मारवाड़ी स्पोर्टिङ्ग क्लब' की स्थापना की। बम्बई के प्रसिद्ध 'मेरी मेकर्स क्लब' के भी वे संरक्षक तथा संस्थापकों में थे।

शिक्षा-संस्थाओं से रामबिलासजी को विशेष प्रेम था। 'सेंट जेवियर्स कालेज' के गुजराती इन्स्टीट्यूट की स्थापना में उनका प्रमुख भाग था। 'मारवाड़ी विद्यालय' तथा 'सीताराम पोद्दार बालिका विद्यालय' के प्रत्येक समारोह में वे बड़े उत्साह से भाग लेते थे। अपने पिता द्वारा स्थापित और संरक्षित संस्थाओं की सुव्यवस्था का उन्हें सदैव ध्यान रहता था। विशेषतः नवलगढ़ के 'सेठ जी० बी० पोदार हाई स्कूल' और सांताक्रूज स्थित 'सेठ आनंदीलाल पोदार हाई स्कूल' का तो प्रबंध भार बहुत कुछ उन्हीं पर था और उनकी देखरेख में इन संस्थाओं ने उल्लेखनीय उन्नति की।

रामबिलासजी को देश का भी पूरा ध्यान था। अल्पवयस्क होते हुए भी वे आधुनिक युग के उन्नत विचारों से भली भाँति परिचित हो गये थे। उनके विचार पूर्णतया राष्ट्रीय थे, जिनमें समाजवाद

की भी कुछ झलक थी। कांग्रेस के प्रति उनकी श्रद्धा असीम थी और देश के महान् आन्दोलनों में उन्होंने बड़े नाजुक मौकों पर सहायता दी थी।

सब से बड़ी बात उनमें यह थी कि अन्य लक्ष्मीपात्रों की तरह वे कभी अर्थ-मदान्ध नहीं हुए। उनमें सहानुभूति, उदारता और स्वार्थत्याग कूट कूट कर भरे थे। उनका सादा गार्हस्थ्य जीवन, कर्त्तव्यशीलता और निष्कपट व्यवहार अनुकरणीय था। संक्षेपतः रामबिलासजी बड़े शिक्षाप्रेमी, विद्वान् और व्यापार-कुशल थे और इनसे भी बढ़ कर थी उनमें सदाचारिता, सौजन्य, सहृदयता और देशभक्ति। यदि वे जीवित रहते तो निःसन्देह समाज और देश की उनके द्वारा बहुत सेवा होती और वे जाति तथा देश का मुख उज्ज्वल करते, पर शोक है कि ६ जुलाई सन् १९३६ को कराल काल ने अकस्मात् मोटर दुर्घटना के बहाने इस युवकरत्न को केवल २३ वर्ष की अवस्था में अपना ग्रास बना लिया।

ऐसे होनहार युवक के अकाल देहावसान से उसके कुटुम्बीवर्ग, मित्रों तथा उसके सम्पर्क में आनेवाले अन्य व्यक्तियों को कितना शोक हुआ, यह शब्दों द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता। सबने मिल कर उसकी स्मृति रक्षार्थ **'श्री रामबिलास पोद्दार स्मारक समिति'** की स्थापना की। इस समिति ने मित्रों तथा प्रेमियों के विशेष आग्रह के कारण रामबिलासजी की जीवनी तथा स्मृतियों का संग्रह प्रकाशित करने का निश्चय किया और देश तथा विदेश के उच्चकोटि के साहित्य को हिन्दी-भाषा में प्रकाशित करने के उद्देश्य

से '**श्री रामबिलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला**' की स्थापना की। इसका सारा कार्यभार समिति ने इन पंक्तियों के लेखक पर डाला। इस ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ '**रामबिलास पोद्दार—जीवन रेखा और स्मृतियाँ**'—जनता के सामने आ चुका है। और उसके बाद अब यह 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित हुआ है। अन्य ग्रन्थ नियमानुसार यथासमय प्रकाशित होते रहेंगे, ऐसी आशा है।

ईश्वर दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे और उसकी स्मृति में आरम्भ किये इस जनसेवा के कार्य को सफलता।

जवाहिरलाल जैन



विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ

संस्कृत साहित्य का इतिहास

[द्वितीय भाग]

विषय प्रवेश

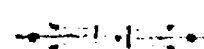
प्रथम भाग में किये गये साहित्याचार्यों और उनके ग्रन्थों के ऐतिहासिक विवेचन द्वारा ज्ञात हो सकता है कि साहित्य के उपलब्ध लक्षण ग्रन्थों में सर्व प्रथम महामुनि भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य के रस, अलङ्कार, गुण (या रीति) और दोषों का निरूपण किया गया है। अग्निपुराण में भी इन्हीं विषयों का निरूपण है। तत्पश्चात् इसा की आठवीं शताब्दी तक भामह से वामन के समय तक यद्यपि नाट्यशास्त्र में प्रदर्शित इन्हीं विषयों का लक्षण-ग्रन्थों में विकास-क्रम से विवेचन मिलता है, तथापि भामह आदि आचार्य विशेष-विशेष सिद्धान्तों के प्रतिपादन में विभक्त दृष्टिगत होते हैं।

भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक और भट्ट नायक आदि के स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध न होने पर भी अन्य ग्रन्थों में उद्धृत किये गये उनके मत द्वारा विदित होता है कि ये महामुनि भरत के रस-सिद्धान्त के विवेचक होने के कारण संभवतः रस-वादी थे। फिर हमारे सन्मुख आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट और वामन आते हैं। इन आचार्यों ने रस विषय पर कुछ भी महत्वपूर्ण प्रकाश नहीं डाला है। प्रधानतया

अलङ्कार और गुण एवं दोषों पर ही विवेचन किया है। इन्होंने अल-ङ्कारादिकों को ही काव्य को अलंकृत करने वाली सामग्री बतलाई है। अर्थात् ये काव्य के वाह्य सौन्दर्य पर ही ध्यान देते रहे हैं। अतएव इन आचार्यों ने अपने प्रतिपाद्य विषय को ही प्रधानता दी है। जैसा कि आगे रस आदि सम्प्रदायों के विवेचन में स्पष्ट किया जायगा।

नाट्यशास्त्र में रस का सम्बन्ध अधिकांश में दृश्य-काव्य-नाटकादि के साथ सम्बद्ध प्रतीत होने के कारण सम्भवतः उस समय श्रव्यकाव्य पर रस सिद्धान्त का पूर्ण रूप से प्रभाव न हो सका। अतएव भरत मुनि के बाद—भामह से वामन तक के उपलब्ध साहित्य ग्रन्थों में रस विषय का यद्यपि गम्भीर विवेचन दृष्टिगत नहीं होता है—बहुत ही संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। तथापि भरतसूत्र के व्याख्याकार भट्ट लोल्लट आदि द्वारा रस पर भी आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। इसके द्वारा आठवीं शताब्दी तक काव्य में रस, अलङ्कार और गुण (या रीति) तीनों सिद्धान्तों की सम्प्रदाय का प्रचलित होना अवश्य सिद्ध होता है। तदनन्तर ध्वनिकार एवं श्री आनन्दव-र्धनाचार्य ने अपनी नवाविष्कृत शैली द्वारा ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए दृश्य-काव्य के समान ही श्रव्य-काव्य में भी रस के सौन्दर्य-कला-जन्य महत्व को समझा कर रस सिद्धान्त के साथ रस-विषयक विभावादि पदार्थों की प्रधानता श्रव्य-काव्य में भी स्पष्ट प्रतिपादन कर दी। और साथ ही ध्वनिकारों ने काव्य में रस, अलङ्कार आदि जो उस समय तक स्वतंत्र रूप में निरूपित किये जा रहे थे, उन सभी का सम्बन्ध अपने ध्वनिसिद्धान्त के साथ स्थापित करके ध्वनि का काव्य में

सर्वत्र व्यापक रूप में साम्राज्य भी प्रतिपादन कर दिया। उसके बाद आचार्य मम्मट ने गम्भीर विवेचना द्वारा ध्वनिकारों के आदर्श पर इन सभी प्रचलित सिद्धान्तों का परस्पर सम्बन्ध और सुघटित स्थान निर्दिष्ट करके ध्वनि-सिद्धान्त का प्राधान्य और भी स्पष्ट करके दिखा दिया। नवीन सिद्धान्त कैसा ही दृढ़-मूल हो उसका विरोध किया जाना स्वाभाविक ही है। ध्वनि-सिद्धान्त को भी विच्छिन्न करने की कुछ विद्वानों द्वारा पर्याप्त चेष्टा की गई प्रथम तो भरत सूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्ट नायक ने रस बिषयक भरतसूत्र की व्याख्या में ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप किया, उसके वाद महिम भट्ट ने भरतसूत्र के द्वितीय व्याख्याकार श्री शंकुक के अनुमिति सिद्धान्त के और कुन्तक ने भामह के वक्रोक्ति के व्यापक सिद्धान्त के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त पर तीव्र किन्तु क्षण-स्थायी आक्षेप किये पर वे आक्षेप निर्मूल होने के कारण स्वतः शान्त हो गये। तथापि आपाततः महिम को ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी और कुन्तक को वक्रोक्ति सिद्धांत के स्थापक के रूप में प्रसिद्धि तो प्राप्त हो ही गई। अस्तु, इस प्रकार रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति यही पांच सिद्धान्त काव्य में सम्प्रदाय के रूप में कहे जाते हैं, उन सम्प्रदायों का निदर्शन ही इस द्वितीय भाग का प्रधान विषय है। उसके प्रथम साहित्य ग्रन्थों का विषय प्रदर्शन कराया जाता है, उसीके अन्तर्गत क्रमशः इन सम्प्रदायों का विस्तृत विवेचन किया जायगा।



साहित्य ग्रन्थों के विषय

साहित्य ग्रन्थों के प्रधानतया यह विषय हैं—

(१) काव्य का प्रयोजन।

(२) काव्य का हेतु।

(३) काव्य का सामान्य लक्षण।

(४) काव्य के भेद रस, ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कारों का निरूपण।

(५) काव्य का गद्य और पद्य एवं दृश्य और श्रव्य में विभाग।

(६) काव्य के गुण और दोष।

किन्तु यह नियम नहीं कि एक ही ग्रन्थ में इन सभी विषयों का विवेचन हो। साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ, विषय—विवेचन में कई भागों में विभक्त हैं—

(अ) कुछ ग्रन्थों में प्रायः उपर्युक्त सभी विषयों का न्यूनाधिक विवेचन है, जैसे विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, हेमचन्द्र का काव्यानुशासन और विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण आदि।

(आ) भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य को छोड़ कर प्रायः अन्य सभी विषय हैं।

(इ) भामह के काव्यालङ्कार, दण्डी के काव्यादर्श, वामन के काव्यालङ्कार सूत्र, और रुद्रट के काव्यालङ्कार में दृश्य—काव्य और ध्वनि एवं गुणभूत व्यङ्ग्य का विषय नहीं है अन्य सभी विषय

हैं। रस का कुछ विशेष विवेचन रुद्रट ने ही किया है। भामह और दण्डी ने अलङ्कारों के अन्तर्गत रसों का दिग्दर्शन मात्र कराया है और वामन ने सर्वथा नहीं।

(ई) आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश, पण्डितराज के रसगङ्गाधर और जयदेव के चन्द्रालोक आदि में दृश्य-काव्य को छोड़ कर सभी विषय हैं। रसगङ्गाधर में गुणीभूत व्यङ्ग्य का लक्षण मात्र है।

(उ) धनञ्जय के दशरूपक में केवल दृश्य-काव्य का, रुद्रभट्ट के शृङ्गारतिलक में और भानुदत्त की रसमञ्जरी आदि में केवल रस का, उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह में, रुय्यक के अलङ्कार-सर्वस्व में, अप्पय्य के कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा में केवल अलङ्कार का विषय है।

(ऊ) ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में दृश्य-काव्य को छोड़कर प्रायः सभी विषय हैं किन्तु प्रधानतया ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

(ऋ) कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में प्रधानतया वक्रोक्ति सिद्धान्त का स्थापन, महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन और मुकुल की अभिधावृत्तिमातृका में तथा अप्पय्य के वृत्तिवार्तिक में केवल अभिधा आदि शब्द-वृत्तियों का विवेचन है।

साहित्य के इन विषयों का अब क्रमशः स्पष्टीकरण किया जाता है।

काव्य का प्रयोजन

किसी भी कार्य में निष्प्रयोजन किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये साहित्य ग्रन्थों में काव्य का लक्षण और उसके भेद दिखाने के प्रथम प्रायः काव्य का प्रयोजन अर्थात् काव्य किस लिये है या काव्य द्वारा क्या फल प्राप्त हो सकता है यह बताया गया है।

कुछ लोगों की धारणा है कि काव्य प्रायः शृङ्गाररसात्मक होने के कारण केवल विषयी जनों के मनोरञ्जन का साधन मात्र है—इसके द्वारा अन्य कुछ लाभ नहीं हो सकता। किन्तु ऐसे विचार वाले व्यक्ति अवश्य ही काव्य के रहस्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। काव्य अध्ययन से केवल मनोरञ्जन ही नहीं, किन्तु धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान की शिक्षा एवं कायरों को साहस, वीरजनों को उत्साह, शोकार्तजनों को सान्त्वना, उद्विग्न चित्तवालों को विश्रान्ति, काव्य-प्रणेता कवि को सन्मान, यश और द्रव्य प्राप्ति आदि के लिये काव्य एक अद्भुत साधन है। महामुनि भरत कहते हैं –

"धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया॥
क्लीबानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि॥
....

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।।"

—नाट्यशा० १।१०९-१२४

तात्पर्य यह है कि सत्काव्य से क्या नहीं हो सकता। काव्य के द्वारा सभी मनोभिलाष पूर्ण हो सकते हैं, जैसा कि रुद्रट ने कहा है—

"अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
बिरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ।।"

—काव्यालं० १।८

भामह ने अर्थ, धर्म और काम के अतिरिक्त काव्य को मोक्ष का साधन भी कहा है—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्" ।।

—काव्यालं० १।२

केवल यही क्यों भगवान् के गुणानुवाद एवं स्तुति रूप काव्यात्मक वर्णन द्वारा भगवत् प्राप्ति के प्रमाण पुराण और इतिहासों में भी पर्याप्त हैं।

मम्मटाचार्य ने कहा है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" ।।

प्रश्न हो सकता है कि यश, व्यवहार-ज्ञान, दुःखनाश, सुख और उपदेश के लिये क्या काव्य के सिवा अन्य कोई साधन नहीं हैं, फिर काव्य का ऐसा महत्व क्यों ? हां, अन्य साधन अवश्य हैं, पर उन सभी की अपेक्षा काव्यात्मक साधन महत्वपूर्ण है। देखिये, कूए, बाग और तालाब आदि के निर्माण और स्थापन द्वारा यद्यपि यश अवश्य प्राप्त होता है किन्तु वह यश चिरस्थायी नहीं–कुछ काल अतिवाहित होने पर इन वस्तुओं के साथ ही वह नष्ट हो जाता है, रुद्रट ने कहा है—

'तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युःसुकवयो राज्ञाम्'

—काव्यालं० १।५

अनादि काल से इस भूमण्डल पर असंख्य राजा महाराजा और सम्राट् यशस्वी हो गये हैं, उन्होंने न मालूम कितने धार्मिक और वीरोचित कार्यों एवं स्थानादि निर्माण द्वारा अपना यश स्थायी रखने का प्रयत्न किया होगा, किन्तु उनमें से जिनके विषय में इतिहास में कुछ नहीं लिखा गया है, उनका कुछ भी स्मृति-चिन्ह अवशेष नहीं है। किन्तु जिनका चरित्र महाभारतादि काव्यों* में अङ्कित हो गया है उन्हीं का यश चिरस्थायी हो रहा है। विल्हण ने कहा है—

*** महाभारत की काव्यसंज्ञा श्री ब्रह्माजी द्वारा प्रदत्त है देखो प्रथमभाग में महाभारत निबन्ध।**

'महीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवरुर्व्यां
नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम्'।
—विक्रमाङ्कदेवचरित १।२६

विद्वान् भी असंख्य होते आये हैं किन्तु उनमें भी जिन महाकवि कालिदासादि ने ग्रन्थ निर्माण किये हैं उनका शरीर पात होने पर भी वे अद्यापि काव्य शरीर से अमर हो रहे हैं।

द्रव्य लाभ के साधन भी अनेक हैं किन्तु काव्य द्वारा जैसा सन्मान पूर्वक द्रव्य लाभ होता है, वह महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में जिस प्रकार कवि और विद्वानों को सम्मान के साथ द्रव्य लाभ हुआ है उसका साक्षी इतिहास है, राजतरङ्गिणी द्वारा ज्ञात होता है कि उद्भटादिकों का प्रति दिन एक लक्ष स्वर्णमुद्रा का वेतन था। यही नहीं, जितने प्रसिद्ध सम्राट् और राजा हुए हैं उनके सन्धिविग्रहक-मंत्री प्रायः कवि ही होते थे। साम्प्रत काल में भी पाश्चात्य देशों में जहां विद्वत्ता का मूल्य है, ग्रन्थ निर्माण द्वारा द्रव्य लाभ के उदाहरण समक्ष में देखे जाते हैं।

लोक-व्यवहार के ज्ञान के लिये भी काव्य ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा सहज ही सभी लोक-व्यवहार का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है।

दुःख नाश के लिये सूर्यस्तुति से कुष्ठ आदि रोग निवृत्ति के उदाहरण मयूरादि कवियों के प्रसिद्ध हैं।

आनन्द की प्राप्ति भी स्वर्गादिलोक के साधक यज्ञादि-धार्मिक क्रियाओं द्वारा अवश्य होती है, पर कब? कालान्तर में और देहान्तर में—तत्काल नहीं। किन्तु काव्य-जनित आनन्द काव्य के श्रवण अथवा मनन के अनन्तर तत्काल ही उपलब्ध हो जाता है, आनन्द भी साधारण नहीं किन्तु ब्रह्मानन्द के समान परम आनन्द—'ब्रह्मानन्दसहोदरः' (सा० दर्पण)। वस्तुतः काव्य-जन्य आनन्द अनुपम है, कहा है—

'सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य।
दृश्यतेऽथवानिशम्यते सदृशमशांशमात्रेण'॥

—काव्यप्र० उ० ७ पृ० ६८६

राजानक कुन्तक ने तो चतुर्वर्ग-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के आनंद से भी बढ़ कर काव्यामृतरसास्वाद को बताया है—

'चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते'।

—वक्रोक्तिजीवित पृ० ५

आत्मज्ञान के लिये वेदों में, धर्म के लिये धर्मशास्त्रों में, और नीति के लिये नीति ग्रन्थों में, पर्याप्त उपदेश हैं और वे वाञ्छनीय होने पर भी उनका मार्ग अत्यन्त गूढ़ और दुर्भेद्य होने के कारण उनमें प्रवेश करना दुःसाध्य है। अतएव उनके द्वारा आत्मोन्नति का अथवा धर्माधर्म का या लोक-व्यवहार का उपदेश जिज्ञासु जन ही ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि वेदों की श्रुतियां प्रभु-सम्मित शब्द है,

वे आत्मज्ञान का राजाज्ञा के समान उपदेश करते हैं। और धर्म-शास्त्र सुहृद-सम्मित-शब्द हैं, वे मित्र के समान हिताहित को समझाते हैं। किन्तु राज्यानुशासन द्वारा धर्म का पालन और मित्रों के समझाने से सदाचार का ग्रहण विरले ही कर सकते हैं—अधिकारी होने पर ही इनसे इच्छित उपदेश मिल सकता है। प्रायः जो लोग उनके उपदेशों में रुचि ही नहीं रखते ऐसे लोगों को उनके द्वारा शिक्षा किस प्रकार प्राप्त हो सकती है। अतएव उनके लिये काव्य द्वारा ही उपदेश उपयुक्त हो सकता है क्योंकि काव्य कान्ता-सम्मित शब्द हैं। अर्थात् जिसप्रकार कामिनी गुरुजनों के शासन में रहने वाले अपने प्रियतम को बिलक्षण कटाक्षादि हावभावों की मधुरता से अनुरक्त कर के अपने अनुकूल कर लेती है, उसी प्रकार सत्काव्य भी सुकुमारमती वेद शास्त्रादि से विमुखजनों को मधुर, कोमल और कांतपदावली द्वारा शृङ्गारादि रसों की सरसता से अपने में अनुरक्त करके सदुपदेश देता है। कहने का अभिप्राय यह है कि वेद और शास्त्र जन्य उपदेश अवश्य ही अविद्या रूप व्याधि को सर्वथा नष्ट कर देते हैं, किन्तु वह कटु औषध के समान है, जो अत्यन्त गुण-कारक होने पर भी सहसा सेवन नहीं की जा सकती किन्तु काव्य द्वारा उपदेश आल्हादक एवं मधुर अमृत के समान औषध रूप हैं। जो सहज ही रुचि पूर्वक सेवन की जा सकती है। कहा है—

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आल्हाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्'।

—वक्रोक्तिजीवित पृ० ६
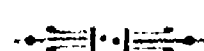
काव्य द्वारा किस प्रकार उपदेश प्राप्त होता है इसके उदाहरण में काव्यों के मूल-श्रोत श्रीरामचरित्रात्मक श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण आदि काव्यों पर दृष्टिपात कीजिये। इनमें भगवान् श्रीरामचन्द्र, भगवती जनकनन्दिनी, मातु श्री कौसल्या, एवं सुमित्रा और भरत, लक्ष्मण आदि के आदर्श चरित्रों एवं कैकयी आदि के अनिष्ट चरित्रों तथा रावणादि के पापाचरणों द्वारा और महाभारतादि सत्काव्यों में अनेकानेक इतिहासों के हृदयहारी वर्णनों में दिखाये गये उत्तम और निकृष्ट परिणामों द्वारा जो उपदेश प्राप्त हो सकता है वह वस्तुतः सहज और सुख-साध्य होने के कारण अन्य मार्गों से विलक्षण है। इसीलिये आचार्य भामह ने भी कहा है—

"स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढ़मधवः पिबन्ति कटुभेषजम्" ॥

—काव्यालं० ५।३

अर्थात् काव्यरस के मधुर आस्वाद से मिश्रित शास्त्र-विहित शिक्षा का ग्रहण सुख साध्य है जिस प्रकार मधुर वस्तु के लोभ से बालक कटु औषधि भी पी लेता है।

ऊपर किये गये विवेचन द्वारा निर्विवाद सिद्ध है कि काव्य का अध्ययन केवल मनोरञ्जन मात्र नहीं किंतु अत्यन्त प्रयोजनीय भी है।



काव्य-हेतु

जिसके द्वारा काव्य-रचना में कवि को—सफलता प्राप्त होती है, अर्थात् जिसका होना कवि में परमावश्यक है, उसे काव्य का हेतु कहते हैं।

काव्य का हेतु क्या है, इस विषय में साहित्याचार्यों के विभिन्न मत हैं। अधिकांश आचार्यों का मत है कि कवि के लिये शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों की ही परमावश्यकता है, इसके प्रथम कि इस विषय के विभिन्न मतों का उल्लेख किया जाय इन तीनों की स्पष्टता करना आवश्यक है—

(१) 'शक्ति' का लक्षण रुद्रट ने यह लिखा है—

> "मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य।
> अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः" ॥
>
> —काव्यालं० १।१५

जिस के द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण और कठिनता रहित पदों का भान होता है, काव्य-रचना के समय तत्काल अनेक शब्द और अर्थ हृदयस्थ हो जाते हैं; उसे शक्ति कहते हैं। शक्ति ही काव्य-रचना का बीज भूत संस्कार है, इसके विना काव्य-रचना हो ही नहीं सकती, यदि हठात् की भी जाती है तो उपहास के योग्य होती है। शक्ति का ही पर्याय 'प्रतिभा' है। प्रतिभा कवि को जन्म के साथ ही साथ प्राप्त होती है अथवा पूर्व

पुण्य के प्रभाव से किसी देवता के प्रसाद द्वारा जन्म के बाद भी किसी किसी को उपलब्ध हो जाती है। आचार्य रुद्रट ने इसको सहजा और उत्पाद्या दो भेदों में विभक्त की है, जिन में वह सहजा को ही मुख्य मानता है।

(२) 'निपुणता'। श्रुति, स्मृति, पुराण, नाट्य-शास्त्र, काम-शास्त्र, योग-शास्त्र, आयुर्वेद, छन्द, व्याकरण, अभिधान कोश, कला, चतुवर्ग-साधन, रत्न परीक्षा, गज, अश्वशास्त्र आदि विद्याओं के ग्रन्थों का एवं काव्य, एवं काव्य-शिक्षा विषयक और इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन और स्थावर, जङ्गम आदि के लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, संक्षिप्त में कवि को काव्य के उपयोगी निपुणता के यही साधन है। यों तो कवि के लिये सभी विषयों के ज्ञान की परमावश्यकता है, भामह ने कहा है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥

—काव्यालं० ५।४

निपुणता का पर्याय व्युत्पत्ति भी है।

(३) 'अभ्यास' तो प्रसिद्ध ही है। काव्य के निर्माण और उसके सदसद् के विचार में योग्य विद्वानों द्वारा शिक्षा प्राप्त करना और काव्य के निर्माण एवं अध्ययन में निरन्तर प्रवृत्त रहने को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास द्वारा सुसंस्कृत प्रतिभा ही काव्यामृत उत्पन्न करने के लिये कामधेनु है। कहा है—

'अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति।'

अच्छा, अब इस पर साहित्याचार्यों के मत देखिये। भामह का मत है—

"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।

—काव्यालं० १।५

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्" ॥
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः"।

—काव्यालं० १।१०

अर्थात् भामह, शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को काव्य का हेतु बतलाता है। और भामह के बाद दण्डी भी—

"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः" ॥

—काव्याद० १।१०३

इस पद्य में तीनों को काव्य का कारण मानता है। किन्तु इसके अनन्तर दण्डी यह भी कहता है—

"न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना,
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती,
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।

कृशे कवित्वेपिजनाः कृतश्रमा,
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते" ॥
—काव्याद० १।१०४,१०५

अर्थात् दण्डी प्रतिभा के अभाव में भी केवल निपुणता और अभ्यास को भी काव्य रचना का कारण बताता है।

इसके अनन्तर रुद्रट ने दण्डी का यह मत स्वीकार न करके भामह का अनुसरण किया है। उसने कहा है—

"तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुण करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः" ॥
—काव्यालं० १।१४

अर्थात् रुद्रट भी तीनों की आवश्यकता बताता है। मम्मटाचार्य ने भी दण्डी के मत को स्वीकार नहीं किया किन्तु भामह और रुद्रट के मत के साथ अपनी अनुमति ही नहीं दी किन्तु यह भी स्पष्ट कहा है—

"शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥"
—काव्यप्र० १।३

और इसकी वृत्ति में यह भी कह दिया है—

'त्रयः सम्मिलिता··················हेतुर्नतुहेतवः।'

अर्थात् आचार्य मम्मट इन तीनों को पृथक् पृथक् स्वतंत्र कारण नहीं

मानते किन्तु तीनों ही को सम्मिलित रूप में एक ही कारण स्वीकार करते हैं।

प्रथम वाग्भट जैन आचार्य भी—

"प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥"

—वाग्भटालं० १।३

इस कारिका में तीनों ही को आवश्यक बताता है। सारांश यह कि उपर्युक्त आचार्य शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को ही काव्य का हेतु मानते हैं। किन्तु कुछ आचार्य केवल प्रतिभा या शक्ति को ही काव्य का एक मात्र स्वतन्त्र कारण मानते हैं। इस मत का प्रतिपादक उपलब्ध ग्रन्थों में सर्व प्रथम वामन है। वामन ने कहा है—'कवित्वबीजं प्रतिभानम्।' (काव्यालं० सूत्र १।३।१६) राजशेखर का भी यही मत है। राजशेखर ने इस मत की पुष्टि में मेधावीरुद्र और कुमारदासादि का उदाहरण दिया है—जिन्होंने जन्मान्ध कवि होने के कारण न तो शास्त्रों के अध्ययन से व्युत्पत्ति ही प्राप्त की थी और न अभ्यास ही। केवल प्रतिभा द्वारा काव्य निर्माण किया था। राजशेखर ने कहा है—

'सा केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः'।

—काव्यमी० पृ० ११

द्वितीय वाग्भट राजशेखर का अनुयायी है, उसने भी यही कहा है—

'प्रतिभैव च कवीनां काव्य करण कारणम् ।
व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतू ॥
—काव्यानु० पृ० २ टीका

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी आलोचना से इस विषय को भी अस्पृश्य नहीं रक्खा, वे प्रतिभा को काव्य का एक मात्र स्वतन्त्र कारण मानते हुए भी उसको दो भेदों में विभक्त करते हैं, एक प्रारब्धवश किसी देवता या महापुरुष के प्रसाद द्वारा प्राप्त अदृष्ट शक्ति और द्वितीय, व्युत्पत्ति और काव्य निर्माण के अभ्यास जन्य। अर्थात् जिसप्रकार अदृष्ट शक्ति को वे काव्योत्पत्ति का स्वतंत्र कारण मानते हैं, उसीप्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास-जन्य शक्ति को भी स्वतंत्र कारण ही मानते हैं, न कि तीनों के समूह को सम्मिलित रूप में एक ही कारण। यद्यपि इनका यह मत अधिकांश में दण्डी के मत के समान है फिर भी इनका यह विवेचन आलोचनात्मक होने के कारण विलक्षण प्रतीत होता है।

ऊपर के विवरण द्वारा स्पष्ट है कि अधिकांश आचार्यों का मत यही है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास यह तीनों सम्मिलित रूप में ही काव्य का कारण है। इनमें प्रतिभा को प्रधानता अवश्य है, क्योंकि काव्य-रचना के लिये कवि के हृदयस्तल में शब्दों और अर्थों का परिस्फुरण एवं पद-योजना का बीज भूत कारण प्रतिभा ही है। यदि काव्य-रचना करने की शक्ति ही नहीं हो तो शास्त्र-जन्य-व्युत्पत्ति एवं अभ्यास निष्फल है। फिर भी सारासार के औचित्य का विचार

व्युत्पत्ति पर ही अवलम्बित है। अतएव भगवान् वेदव्यास ने आज्ञा की है—

"कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः।"

—अग्निपुराण ३३७।४

और अभ्यास तो सर्वत्र ही वाञ्छनीय है। प्रथमावस्था और अभ्यस्तावस्था के कार्य में प्रत्यक्ष ही अन्तर दृष्टिगत होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—'व्युत्पत्याभ्यासाभ्यां संस्कार्या।' अर्थात् जिस प्रकार रत्न को चमत्कृत करने के लिये संस्कार—शाणोत्तीर्ण करना आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य को चमत्कृत एवं मनोरञ्जक करने के लिये व्युत्पत्ति और अभ्यास परमावश्यक है, क्योंकि व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के उपकारक है इसीलिये हमारे विचार में मम्मट आदि के मतानुसार प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को सम्मिलित रूप में ही 'काव्य-हेतु' माना जाना उचित है। मेधाविरुद्र आदि के उदाहरण सर्वत्र लागू नहीं हो सकते।

काव्य का लक्षण

काव्य और कवि शब्द का अर्थ

'काव्य' शब्द का अर्थ कवि की कृति है—कवि द्वारा जो कार्य किया जाय उसे काव्य कहते हैं—'कवेरिदं कार्यं भावो वा (ष्यञ्)—

(मेदिनीकोष) 'कवनीयं काव्यम्' (अभिनवगुप्ताचार्य का ध्वन्यालोक-लोचन,) 'कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम् ।' (विद्याधर की एकावली) । अच्छा, अब वह ज्ञातव्य है कि 'कवि' शब्द का क्या अर्थ है—

'कवते सर्वं जानाति सर्वं वर्णयतीति कविः । यद्वा कु शब्दे + अच=इः (शब्द कल्पद्रुम) तथैव 'कवते श्लोकान् प्रथते वर्णयति वा' (अमरकोष)

अर्थात् सर्वज्ञ और सब विषयों के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं । अतएव इसी व्यापक अर्थ के अनुसार सर्व प्रथम श्री परमेश्वर के लिये वेदों में कवि शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।' (शुक्र यजु० ४०।८) फिर 'आदि कवि' का प्रयोग वेदों के प्रकाशक श्री ब्रह्माजी के लिये किया गया है—'तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये ।' (श्रीमद्भागवत १।१।१) इसके बाद अन्य महर्षि एवं विभिन्न शास्त्र-प्रणेताओं के लिये भी 'कवि' शब्द का प्रयोग देखा जाता है । तात्पर्य यह कि प्रारम्भ में 'कवि' शब्द का प्रयोग अधिकाधिक व्यापक अर्थ में किया गया है । किन्तु काव्य-प्रणेता के लिये विशेष रूप में संभवतः सबसे प्रथम महर्षि वाल्मीकिजी के लिये आदिकवि तथैव भगवान् श्री वेदव्यास के लिये 'कवि' शब्द का प्रयोग दृष्टि-गत होता है । और इसीके अनुसार आदिकाव्य का प्रयोग श्रीवाल्मीकीय रामायण के एवं 'काव्य' का प्रयोग महाभारत के लिये किया गया है । श्रीवाल्मीकीय रामायण के तो प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'इत्यार्षे आदिकाव्ये' का उल्लेख है । और महाभारत

के विषय में—'कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ।'—(महाभा० १।६१) यह वाक्य स्वयं श्री वेदव्यासजी का है। इसके द्वारा विदित होता है कि 'कवि' शब्द का प्रयोग महर्षि वाल्मीकि के समय से ही एक विशिष्ट प्रकार की चित्ताकर्षक रमणीय शैली के रचयिता के लिये और 'काव्य' शब्द का प्रयोग एक विशेष रमणीय शैली के रचनात्मक ग्रन्थ के लिये प्रचलित है। भगवान् वेदव्यास के—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते† ।'

—अग्निपुराण ३३९।१०

इस पद्य में जो कवि को एतादृश महत्व दिया गया है, इसके द्वारा भी स्पष्ट है कि 'कवि' शब्द प्रतिभा सम्पन्न एक विशेष प्रकार की असाधारण शैली की रचना करने वाले विद्वान् के अर्थ में योगरूढ़ कर दिया गया है। तदनन्तर तो सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों द्वारा कवि और काव्य शब्द इसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है, जैसा कि भामह के—

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता,
तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः।
तस्य कर्मस्मृतं काव्यम् ।'※

† काव्य रूपी अपार-संसार में कवि ही प्रजापति है—काव्य-संसार का सृष्टिकर्त्ता कवि ही है, कवि को यह संसार जिस प्रकार ईप्सित होता है उसी प्रकार यह परिवर्तित हो जाता है।

※ यह पद्य वामन के अलङ्कार सूत्र (१।१।१) की कामधेनु टीका में गोपेन्द्रत्रिपुहर ने भामह के नाम से उद्धृत किया है पर

और मम्मट के—

काव्यम् 'लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म··· ।'

—काव्यप्रकाश प्रथमोल्लास पृ० १२

इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट है ।

काव्य का लक्षण

अच्छा, यह तो हुआ काव्य और कवि शब्द का शब्दार्थ । अब यह विवेचनीय है कि जिस कवि-कृति को काव्य कहा गया है उसका स्वरूप क्या है—काव्य का लक्षण क्या है । इस विषय में प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार काव्य का लक्षण निर्माण किया है । सबसे प्रथम हमको काव्य के लक्षण के रूप में नाट्यशास्त्र में महामुनि भरत का यह पद्य मिलता है—

श्री भरतमुनि का काव्य-लक्षण

'मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ।

—नाट्यशास्त्र १६।११८

भामह के काव्यालङ्कार में दृष्टिगत नहीं होता है। हेमचन्द्र ने यह पद्य नामोल्लेख के बिना काव्यानुशासन के विवेक में उद्धृत किया है ।

अर्थात् (१) कोमल और मनोहर पदों से युक्त, (२) गूढ़ शब्द और अर्थ रहित, (३) सब लोगों के समझने में सुगम, (४) युक्ति-युक्त, (५) नृत्य में उपयोग करने योग्य, (६) रस के बहुत से श्रोत बहाने वाला, और (७) सन्धियों के सन्धान सहित हो वह काव्य उत्तम होता है।

इसमें काव्य के सात विशेषण हैं। प्रथम और दूसरे विशेषण में काव्य के उपयोगी शब्दार्थ का ग्रहण है। प्रथम द्वितीय और तृतीय विशेषणों में माधुर्य एवं प्रसादादि गुणों का ग्रहण है और द्वितीय विशेषण में दोषों से रहित होना कहा गया है। चतुर्थ विशेषण में संभवतः अलङ्कारादि का ग्रहण है एवं छठे विशेषण में काव्य का रस-युक्त होना कहा गया है। और पञ्चम और सप्तम विशेषण में दृश्य-काव्य (नाटिकादि) के उपयोगी विषयों का ग्रहण किया गया है।

अग्निपुराण का काव्य-लक्षण

नाट्यशास्त्र के बाद अग्निपुराण में—

'शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता,
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते।

—अग्निपुराण ३३७।२-३

इस वाक्य द्वारा भगवान् वेदव्यासजी ने शास्त्र इतिहास से काव्य की पृथकता दिखा कर काव्य का लक्षण यह आज्ञा किया है—

'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्।'

—अग्निपुराण ३३७।६-७

अर्थात् दोष-रहित, अलङ्कारसहित और गुणयुक्त पदावली—ऐसी पदावली जिसमें अभीष्ट अर्थ संक्षेप में भली प्रकार कहा जाय, काव्य है।

भामह का काव्य-लक्षण

अग्निपुराण के पश्चात् भामह ने काव्य का लक्षण यह दिया है—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' काव्यालङ्कार १।१६

दण्डी का काव्य-लक्षण

भामह के बाद दण्डी ने—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।'

—काव्यादर्श १।१०

यह लक्षण लिखा है। दण्डी ने अग्निपुराण के 'संक्षेपाद्वाक्यं' के स्थान पर 'शरीर' रख दिया है। किन्तु काव्यमर्मज्ञ विद्वान् इस लक्षण को अपूर्ण मानते हैं। क्योंकि दण्डी ने 'पदावली' को काव्य का शरीर माना है तो काव्य की आत्मा क्या है? यह प्रश्न शेष रह जाता है। अस्तु, भामह और दण्डी ने यद्यपि लक्षण में दोषाभाव और सालङ्कार का समावेश नहीं किया है किन्तु भामह के—

'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।'

—काव्यालं० १।११

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।'

—काव्यालं० १।१३—

और दण्डी के –

"तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥"

—काव्यादर्श १।७

"तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।"

—काव्यादर्श १।१०

इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि भामह और दण्डी ने दोष-रहित और अलङ्कार-सहित शब्दार्थ को ही काव्य माना है । अतएव भामह और दण्डी स्थूल रूप से अग्निपुराण के ही अनुयायी हैं । किन्तु अग्निपुराण में काव्य का प्राणभूत रस को ही माना गया है—

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्र जीवितम् ।

—अग्निपुराण ३३७।३३

यद्यपि भामह ने—

'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।'

—काव्यालं० १।२१

इस वाक्य में महाकाव्य में रस की स्थिति होना आवश्यक बताया है । और दण्डी ने भी—

'कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति ।' (काव्याद० १।६२)

इस वाक्य में अलङ्कारों को रस के उत्कर्षक कह कर काव्य में रसकी मुख्यता स्वीकार की है फिर भी भामह और दण्डी ने अलङ्कारों को

ही प्रधानता दी है। जैसा कि इन दोनों के विवेचन द्वारा प्रतीत होता है।

वामन का काव्य-लक्षण

भामह और दण्डी के बाद वामन ने 'काव्य' शब्द की स्पष्टता में—

'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।' 'सौन्दर्यमलङ्कारः।' 'स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्।' (काव्यालङ्कार सूत्र १।१।१,२,३)

यह तीन सूत्र लिख कर प्रथम सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।'

अर्थात् प्रथम सूत्र में वामन कहता है कि काव्य अलङ्कार सहित होने से ग्राह्य है। दूसरे सूत्र में कहता है 'सौन्दर्य ही अलङ्कार है'। और तीसरे सूत्र में वह कहता है काव्य का दोष-रहित और गुण, एवं अलङ्कार सहित होना ही सौन्दर्य है। फिर प्रथम सूत्र की वृत्ति में वामन यह कहता है कि 'काव्य' शब्द ऐसे शब्दार्थ का वाचक है जिसमें गुण और अलङ्कार दोनों हों। 'काव्य' के लक्षण में केवल 'शब्दार्थ' मात्र कहना लाक्षणिक ※ प्रयोग है।

※ जैसे 'कौओं से दही की रक्षा करो' इस वाक्य द्वारा केवल कौओं का ही नहीं किन्तु लक्षणा (उपादान लक्षणा) द्वारा जिस प्रकार दधि-भक्षक मात्र का अर्थ ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार 'काव्य' शब्द से शब्दार्थ के साथ गुण और अलङ्कार दोनों का भी ग्रहण किया गया है।

यहांतक तो काव्य के लक्षण के विषय में वामन और उसके पूर्ववर्ती भामह आदि का अधिकांश में मतैक्य ही प्रतीत होता है किन्तु इसके आगे—रीतिरात्मा काव्यस्य।' (काव्यालं० सूत्र १।२।६) इस सूत्र और इसकी—रीतिर्नियमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः।' इस वृत्ति द्वारा वामन 'रीति'* को काव्य की आत्मा और शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानता है। वामन का यह मत इसके पूर्ववर्ती भामह आदि सभी आचार्यों से एक बार ही नवीन है।

रुद्रट का काव्य-लक्षण

वामन के अनन्तर आचार्य रुद्रट ने भामह का अनुसरण करते हुए काव्य का लक्षण तो 'ननु * शब्दार्थौ काव्यम्।' (२।१ पृ० ८) यही लिखा है पर रुद्रट के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि वह भी दोष-रहित और अलङ्कार-सहित शब्दार्थ को ही काव्य मानता है। इसके सिवा रुद्रट काव्य में रस की स्थिति का होना भी परमावश्यक बतलाता है—

---

* वामन ने वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली—तीन रीति मानी है। यह रीतियां माधुर्य आदि गुणों पर निर्भर हैं। इस विषय में अधिक स्पष्टता आगे रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत की जायगी।

* 'ननु' शब्द का प्रयोग रुद्रट ने प्रश्न के उत्तर के लिये किया है। इसकी व्याख्या में नमिसाधु ने लिखा है—'ननुशब्दः पृष्टप्रतिवचने।'

'तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।'

—काव्यालङ्कार १२।२ पृ०१५०

रुद्रट के बाद ध्वन्यालोक-प्रणेता ध्वनिकार एवं श्री आनन्द वर्धनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती भामह आदि के लिखे हुए काव्य के सभी लक्षणों को अनुपयुक्त समझ कर अपने नवीन किन्तु दृढ़-मूल ध्वनि-सिद्धान्त[1] द्वारा काव्य की आत्मा ध्वन्यार्थ (व्यंग्यार्थ) को ही ध्वन्यालोक में सिद्ध किया है ।

ध्वनिकार का मत

कुन्तल का काव्य-लक्षण

ध्वन्यालोक के बाद 'वक्रोक्तिजीवित' प्रणेता राजानक कुन्तक ने—

'न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम् नाप्यर्थस्येति ।' (वक्रोक्तिजी० पृ० १०)

इस वाक्य में भामहादि के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों को काव्य बतलाया है । पर कुन्तक ने वक्रोक्ति-गर्भित[2] (उक्ति-वैचित्र्य वाले) शब्दार्थ को ही काव्य माना है—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणि ।'

—वक्रोक्तिजी० १।७ पृ० ७

---

१ ध्वनि और ध्वन्यार्थ की अधिक स्पष्टता आगे ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत की गई है ।

२ वक्रोक्ति के विषय में आगे वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत विवेचन किया गया है ।

इसके बाद धराधीश महाराज भोज ने यद्यपि काव्य का लक्षण

भोजराजा का काव्य-लक्षण

स्पष्टतया नहीं लिखा है। परन्तु भोज के—

'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्,
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विंदति।'

—सरस्वतीकण्ठाभरण १।२ पृ० २

इन वाक्यों द्वारा काव्य के लक्षण के विषय में उसका यही मत समझा जा सकता है। इसमें भोज ने दोषाभाव और गुण अलङ्कार के सिवा रस का भी समावेश स्पष्ट कर दिया है।

भोजराज के अनन्तर सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य मम्मट ने अपने

मम्मट का काव्य-लक्षण

काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण यह लिखा है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

अर्थात् आचार्य मम्मट ने दोष-रहित, गुण एवं अलङ्कार युक्त और कहीं स्फुट अलङ्कार न भी हो ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य बताया है।

हेमचंद्र और विद्यानाथ का काव्य-लक्षण

आचार्य मम्मट के बाद हेमचन्द्राचार्य ने—

'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।'

—काव्यानुशासन प्रथम अध्याय पृ० १६

और प्रतापरूद्रयशोभूषण के प्रणेता विद्यानाथ ने—

'गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्।'

यह लक्षण लिखे हैं। हेमचन्द्र और विद्यानाथ ने मम्मटाचार्य का अनुसरण करते हुए भी काव्यप्रकाश के 'अलंकृती' पद के स्थान पर 'सालङ्कारौ' का प्रयोग किया है। वाग्भट प्रथम ने—

वाग्भट का काव्य-लक्षण

'साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम्,
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये।'

—वाग्भटालङ्कार १।२ पृ० ४

वाग्भट ने ऐसे शब्दार्थ को, जो गुण अलङ्कार से भूषित और 'रीति' एवं रस से युक्त हो काव्य बताया है। द्वितीय वाग्भट ने—

शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्।

—काव्यानुशासन पृ० १४

इसमें प्रायः काव्यप्रकाश का अनुसरण है।

इनके बाद चन्द्रालोक प्रणेता पीयूषवर्ष जयदेव के—

जयदेव का काव्य-लक्षण

'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता,
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।'

—चन्द्रालोक १।७

इस लक्षण में 'वृत्ति' का समावेश करके काव्य के सभी विषय रख दिये गये हैं।

जयदेव के बाद साहित्य-दर्पण में महाकवि विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य का अनुसरण न करके—

विश्वनाथ का काव्य-लक्षण

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।' (साहित्यदर्पण १।३)

यह स्वतंत्र लक्षण लिखा है। विश्वनाथ का कहना है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है। रस शब्द का विश्वनाथ ने रूढ़-अर्थ केवल शृङ्गारादि रस ही नहीं ग्रहण किया है किन्तु 'रस्यतेऽइतिरसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस शब्द का जो आस्वादित हो', इस यौगिक अर्थ के अनुसार भाव और भावाभास आदि का भी ग्रहण किया है। विश्वनाथ का यह लक्षण अधिकांश में शुद्धोदनि की*—

'काव्यं रसादिमद्वाक्यं ।' (अलङ्कारशेखर १।१) इस कारिका पर निर्भर है। किन्तु इस कारिका में 'रसादि' में आदि पद द्वारा अलङ्कार आदि अन्य पदार्थों का भी ग्रहण किया गया है, पर विश्वनाथ केवल रसात्मक वाक्य को ही काव्य बतलाता है।

विश्वनाथ के बाद पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य का—

पण्डितराज का काव्य-लक्षण

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।'
—रसगङ्गाधर

यह लक्षण लिखा है। इसमें रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य बताया गया है। पण्डितराज को शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहा जाना स्वीकृत नहीं और न काव्य के लक्षण में दोष-रहित एवं गुण, अलङ्कार आदि का प्रयोग किया जाना ही। आप सारी रमणीयता का मूल-कारण केवल रस को ही नहीं मानते किन्तु

* शुद्धोदनि की कारिकाएं ही केशव मिश्र ने अपने अलङ्कार-शेखर में लिखा है।

आपके मत में किसी भी अर्थ के ज्ञान से अलौकिक आनन्द—वह कम हो या पर्याप्त—उपलब्ध हो जाय वही रमणीयता का आधार होने से काव्य-शब्द-वाचक हो सकता है। पण्डितराज ने अपने इस मत का प्रतिपादन करते हुए शब्द और अर्थ दोनों को काव्य बताने वाले भामह आदि एवं काव्य के लक्षण में 'अदोषौ' और 'सगुणौ' आदि का प्रयोग करने वाले मम्मट जैसे सुप्रसिद्ध आचार्यों की विस्तृत आलोचना की है। जिसके विषय में आगे विवेचन किया जायगा। बस पण्डितराज के समय तक ही काव्य के विवेचक सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की अन्तिम सीमा है।

काव्य के लक्षण पर विभिन्न आलोचनाएं

ऊपर के विवेचन से विदित हो सकता है कि काव्य की परिभाषा समय-समय पर विभिन्न आचार्यों द्वारा परिवर्तित होती रही है। इस विषय में कुछ आचार्यों द्वारा अपने मत को स्थापित करने के लिये अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की आलोचनाएं भी की गई हैं। पर विचारणीय यहां यह है कि उन आलोचनाओं में कितना तथ्यातथ्य है। और इस परीक्षा में किस आचार्य की दी हुई काव्य-परिभाषा यथार्थ उत्तीर्ण हो सकती है। अतएव इस विषय का भी यहां कुछ दिक्-दर्शन कराया जाना उपयुक्त होने के कारण आवश्यक है। यों तो विषय-विशेष के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण संक्षिप्त रूप में आलोचनात्मक विवेचन भामह के समय से ही मिलता है, जैसा कि इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में भामह, भट्टि और दण्डी विषयक निबन्धों

में उल्लेख किया गया है। किन्तु काव्य-लक्षण के विषय में सर्व प्रथम आलोचनात्मक विवेचन का सूत्रपात हमको वामन के काव्याल-ङ्कार सूत्र में संक्षिप्त रूप में दृष्टिगत होता है। वामन के पूर्ववर्ती भामह आदि द्वारा काव्य के लक्षण में 'शब्दार्थौ' का प्रयोग किया गया है, उसे वामन ने लाक्षणिक प्रयोग बताया है। और शब्द अर्थ को काव्य का शरीर बतला कर 'रीति' को काव्य का आत्मा माना है। अर्थात् वामन के पूर्ववर्ती भामहादिक काव्य में अलङ्कार को प्रधानता दे रहे थे किन्तु वामन ने रीति को प्रधानता दी है। पर इसके इस मत को आचार्य मम्मट ने बड़ी युक्ति-युक्त और सार-गर्भित आलोचना द्वारा निर्मूल सिद्ध कर दिया है, जैसा कि आगे रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जायगा।

वामन के समकालीन उद्भटाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती उन साहित्या-चार्यों के मत की—जिन्होंने गुणों को समवाय वृत्ति से और अलङ्कारों को संयोगवृत्ति से काव्य के शोभाकारक मानकर गुणों और अलङ्कारों में भेद बतलाया है—आलोचना करते हुए इस मत को गड्डुलिका प्रवाह (भेड़ियाधसान) कह कर गुण और अलङ्कार दोनों को ही समवाय वृत्ति से काव्य के शोभा-कारक माना है। भामह से वामन और उद्भट के समय तक काव्य के लक्षण में अलङ्कार और गुण का ही प्रधानतया समावेश होता रहा है अतएव काव्य में गुण प्रधान है या अलङ्कार? इसी विषय में उद्भट द्वारा यह आलोचना की गई है। किन्तु आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टमोल्लास (कारिका ६७ की वृत्ति) में उद्भट के इस मत की आलोचना में बहुत से उदाहरण

दिखा कर गुणों और अलङ्कारों में स्पष्टतया भेद सिद्ध कर दिया है और काव्य के प्राणभूत अङ्गी रस के साथ गुण का और अलङ्कार का क्या सम्बन्ध है वह भी स्पष्ट कर दिया है। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण आगे अलङ्कार सम्प्रदाय और रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया जायगा।

वामन और उद्भट के बाद ध्वनिकारों ने ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही काव्य के लक्षण के विषय में अपने पूर्वाचार्यों के विभिन्न मत उद्धृत करके और उस पर आलोचनात्मक बहुत विस्तार के साथ विवेचन करके 'काव्य की आत्मा ध्वन्यार्थ—व्यंग्यार्थ ही है।' इस मत को दृढ़ प्रमाणों से सिद्ध किया है। ध्वनिकारों के ध्वनि-प्रतिपादक इस मत की राजानक कुन्तल ने अपने वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ में और महिम भट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक ग्रन्थ में बहुत विस्तार के साथ आलोचना करके कुन्तल ने 'वक्रोक्ति' के और महिम ने अनुमान के अन्तर्गत ध्वनि को समावेश करने की यथेष्ट चेष्टा की है। यहां तक कि इन दोनों द्वारा लिखे गये उक्त दोनों ग्रन्थों का एक मात्र उद्देश्य ही ध्वनि सिद्धान्त को उच्छिन्न करने का था। किन्तु कुन्तक और महिम दोनों के ही ध्वनि-विरोधात्मक मत, दृढ़-मूल न होने के कारण परवर्ती सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने उन मतों को स्वीकार न करके प्रत्युत उनका खण्डन किया है और 'ध्वनि' का समर्थन किया है। इसके सिवा महिम भट्ट के इस मत की तो काव्य-प्रकाश के पञ्चमोल्लास में विस्तृत आलोचना करके आचार्य मम्मट ने उसको सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। इस विषय की विस्तृत विवेचना आगे ध्वनि-सम्प्रदाय और

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत की जायगी। अतएव यहां इस विषय पर अधिक विवेचन अनावश्यक है।

ध्वन्यालोक के बाद आलोचना का विषय आचार्य मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में लिखा गया काव्य का लक्षण है। जिसको विभिन्न साहित्याचार्यों द्वारा की गई आलोचना का केंद्र कहना उचित होगा। इसके प्रथम कि उन आलोचनाओं पर विवेचन किया जाय काव्य-प्रकाशोक्त लक्षण का स्पष्टीकरण किया जाना उपयुक्त होगा। काव्यप्रकाश में काव्य का लक्षण—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतीपुनःक्वापि।'

यह दिया गया है।

इस लक्षण में ऐसे शब्द और अर्थ को काव्य बताया गया है, जो दोष-रहित और गुण अलङ्कार सहित हों तथा कहीं अलङ्कार स्पष्ट न भी हो। इस लक्षण में 'शब्द' के प्रयोग द्वारा तीनों प्रकार के—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का और 'अर्थ' के प्रयोग द्वारा तीनों प्रकार के—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्गय अर्थों का ग्रहण किया गया है। 'वाच्यार्थ' द्वारा वन, नदी आदि वस्तु वर्णनात्मक और अलङ्कार रचनात्मक काव्य के चमत्कार का तथा लक्ष्यार्थ द्वारा लक्षणा शक्ति के चमत्कार का समावेश हो जाता है। और व्यंग्यार्थ द्वारा अभिधा मूलाध्वनि के अन्तर्गत रस, रसाभास एवं भाव आदि असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि के और वस्तु-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि आदि संलक्ष्यक्रम-ध्वनि के एवं लक्षणा-मूला—अविवक्षित वाच्य-ध्वनि के अन्तर्गत अर्थान्तर संक्रमितध्वनि तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि के चमत्कार का

समावेश हो जाता है। इस प्रकार काव्य के लक्षण में काव्यत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त होने योग्य सभी रचनाओं का समावेश करके फिर आचार्य मम्मट ने—

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।'
'अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्।'
'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।'
—काव्यप्रकाश १।५,६

इन कारिकाओं द्वारा काव्य को तीन भेदों में—उत्तम, मध्यम और अधम—संज्ञा से विभक्त कर दिया है। इसके बाद फिर अष्टमोल्लास में रस एवं गुण, अलङ्कार का काव्य में क्या स्थान है, यह बताते हुए, काव्य में रस का सर्वोपरि प्राधान्य भी स्पष्ट कर दिया है। जैसा कि संक्षिप्त में पहिले दिखाया गया है।

काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर आलोचनाएं और उनका खण्डन

प्रथम तो चन्द्रालोक में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण के 'अनलंकृती' शब्द पर पीयूषवर्ष जयदेव ने आक्षेप किया है, मम्मटाचार्य को मूर्ख ठहराने के लिये उनकी दिल्लगी उड़ाई है कि—

'अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती,[१]
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।'
—चन्द्रालोक १।८

१ जो विद्वान् अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थ को काव्य स्वीकार करता है, वह अग्नि को भी उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता है?

किन्तु इस आक्षेप द्वारा स्वयं जयदेव उपहासास्पद हो गया है। क्योंकि 'अनलंकृती' का अर्थ स्वयं मम्मटाचार्य ने वृत्ति में अस्फुट अलङ्कार' स्पष्ट लिख दिया है। यह तो जयदेव भी सिद्ध नहीं कर सकता कि काव्य में सर्वत्र अलङ्कार की स्थिति स्फुट (स्पष्ट) रूप से ही रहती है—अस्पष्ट कहीं भी नहीं। अस्फुट अलङ्कार का उदाहरण स्वयं मम्मटाचार्य ने दिखाया ही है। काव्य में प्रायः ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें किसी अलङ्कार की स्पष्ट स्थिति नहीं होती। अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं, महर्षि वाल्मीकि का श्री रामायण के प्रारम्भ में ही—

> 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमःशाश्वतीः समाः,
> यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।'

यह पद्य ऐसा है जिसमें स्पष्टतया कोई अलङ्कार की स्थिति नहीं है[1]।

---

[1] यदि यह कहा जाय कि इस पद्य के पूर्वार्द्ध में कहे हुए वाक्य को सिद्ध करने के लिये उत्तरार्द्ध में उसका कारण कहा जाने से 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। तो इसका उत्तर यह है कि काव्यलिङ्ग में जो 'कारण' (हेतु) कहा जाता है उसका 'कारण' शब्द द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता—वह अर्थ द्वारा बोध हुआ करता है। कहा है—'गम्यमानहेतुत्वकस्यैव हेतोः सुन्दरत्वेन प्राचीनैः काव्यलिङ्गताभ्युपगमात्।' (काव्यप्रकाश की उद्योत व्याख्या) किन्तु यहां 'यत्' के प्रयोग द्वारा 'कारण' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया गया है अतएव यहां किसी अलङ्कार की स्फुट स्थिति नहीं है।

और इस श्लोक में काव्यत्व का अभाव कहने का दुःसाहस तो जयदेव भी नहीं कर सकता था। इसमें करुणा रस की ध्वनि होने के कारण श्री वाल्मीकीय रामायण की रचना का मूलाधार यही श्लोक है। अतएव महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने ध्वनि काव्य के उदाहरण में सर्व प्रथम इस का ही निर्वाचन किया है।

जयदेव के बाद अष्टादश भाषावारविलासिनी भुजङ्ग साहित्य को दर्पण में स्पष्ट दिखाने के अभिमानी विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश के—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

इस काव्य-लक्षण के प्रत्येक पद में दोष दिखाया है—

१ प्रथम तो इस लक्षण में प्रयुक्त 'अदोषौ' के विषय में विश्वनाथ का कहना है—"यदि दोष-रहित शब्दार्थ ही काव्य माना जायगा तो काव्य का सर्वथा दोष-रहित होना तो अत्यन्त दुर्लभ है। अतः काव्य निर्विषय हो जायगा—किसी रचना को काव्य कहा ही न जा सकेगा। किन्तु—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः।
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा।
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः× ।'

× यह पद्य हनुमान नाटक का है। भगवान् श्री रामचन्द्र द्वारा असंख्य राक्षसों का विनाश हो जाने पर अपने को धिक्कारते हुए रावण की उक्ति है कि प्रथम तो मेरे शत्रु का होना ही अप-

इस पद्य में विधेयाविमर्श दोष होने पर भी इस पद्य को महान् साहित्याचार्य श्री आनन्दवर्धन ने उत्तम काव्य ध्वनि के उदाहरण में (ध्वन्या० उद्योत ३।१६ की वृत्ति में) दिखाया है। फिर इसमें काव्यत्व का अभाव तो माना ही नहीं जा सकता। अतएव ऐसे

मान है ('मे' और 'अरयः' में यह ध्वनि है कि मुझ अलौकिक बल-शाली इन्द्रादि के विजेता के शत्रु होना ही बड़ा आश्चर्य है) इसपर भी वह (शत्रु) एक नहीं अनेक हैं फिर वह (शत्रु) तापस (यहां 'असौ' और 'तापस' में यह ध्वनि है कि वह शत्रु भी मनुष्य और मनुष्यों में भी बनमें भटकने वाला, स्त्री वियोग से दुखित तापस अर्थात् पुरुषार्थ-हीन जो हम राक्षसों का भक्ष्य है) फिर उसका यहां ('यहां' में यह ध्वनि है कि मेरे समीप ही इस लङ्का में जो समुद्र के मध्य में मेरे द्वारा सुरक्षित है) आ जाना और मुझ रावण के जीते जी राक्षस-कुल का संहार करना ('जीवित' पद में काक्वाक्षिप्त ध्वनि यह है कि क्या मैं जी रहा हूं, नहीं जीता हुआ ही मृतक तुल्य हूं और 'रावण' पद में अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि यह है कि मैं सारे संसार को रुलाने वाला रावण, उसे यह तुच्छ तापस भयभीत कर रहा है) केवल मुझे ही नहीं इन्द्रजीत (मेघनाद) को भी धिक्कार है (ध्वनि यह कि इन्द्र को पराजित करके अपने को विश्वविजयी समझ कर मेघनाद का गर्व करना भी व्यर्थ है) और कुम्भकर्ण के जगाने का भी कुछ फल नहीं हो रहा है (ध्वनि यह कि जिस कुम्भकर्ण को

काव्यों में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण की 'अदोषौ' के प्रयोग द्वारा अव्याप्ति होने के कारण इस लक्षण में 'अव्याप्ति'[1] दोष है।"

विश्वनाथ का यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में प्रयुक्त 'अदोषौ' (दोष-रहित) पद में ऐसे दोष का अभाव कहा गया है जो उद्देश्य की प्रतीति का प्रतिबन्धक हो[2]। अर्थात् कवि का उद्देश्य जिस-जिस व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ में वैचित्र्य (चमत्कार) दिखाने का हो उन सभी वैचित्र्यों की प्रतीति में जिसके द्वारा रुकावट होती हो। यदि कवि का उद्देश्य व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों के वैचित्र्य में हो वहां दोनों की ही प्रतीति न हो वही रचना काव्य न मानी जायगी। जहां वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के

निरुपम पराक्रमी समझ कर जगाया था वह भी कुछ न कर सका) अतएव स्वर्ग जैसे छोटे से गांव को विध्वंस करके जिस गर्व से मैं अपनी भुजाओं को फुला रहा हूं वह व्यर्थ ही है (ध्वनि यह कि जिन भुजाओं से मैंने कैलाश को उठा लिया था वे भुजाएं भी हाय, इस समय कुण्ठित हो रही हैं।)

१ जो लक्षण अपने अभीष्ट उदाहरण में व्याप्त (घटित) नहीं हो सकता है उस लक्षण में अव्याप्ति दोष होता है।

२ कहा है—'दोषत्वं च ह्युद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वम्।' काव्यप्रकाश वामनाचार्य व्याख्या पृ० १९,२२० और देखिये सप्तमोल्लास के प्रारम्भ में प्रदीप एवं उद्योत व्याख्या पृष्ठ २४५ आनन्दाश्रम संस्करण सन् १९११

वैचिव्य में एक के वैचित्र्य में रुकावट होने पर भी दूसरे के वैचित्र्य में रुकावट न होगी तो उसमें काव्यत्व का अभाव नहीं कहा जायगा। केवल एक अंश में दोष होने के कारण वह आंशिक दुष्ट काव्य कहा जा सकता है। उपर्युक्त 'न्यक्कारोह्ययमेव' पद्य में कवि का प्रधान उद्देश्य जो रावण द्वारा अपने विषय में दुःख का अतिशय सूचन कराना है। वह 'न्यक्कारोह्ययमेव' इस पद्य के 'यदरयः' 'तत्राप्यसौतापसः' इत्यादि वाक्यों के व्यङ्ग्यार्थ द्वारा सूचित होता है। काव्यप्रकाश में इस पद्य में जो 'अविमृष्टविधेयांश' दोष कहा गया है वह 'न्यक्कारो' और 'ह्ययमेव' इन पदों के पूर्वापर प्रयोग में वाक्यगत दोष बताया गया है, न कि व्यङ्ग्यार्थ में क्योंकि व्यंग्यार्थ के चमत्कार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती है। अतएव इस पद्य में वाक्य-गत दोष होने पर भी व्यंग्यार्थ का वैचित्र्य अक्षुण्ण होने के कारण मम्मट के लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। इसके सिवा मम्मट ने स्वयं—

'वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपिगुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ।'

—काव्यप्र० ७।५९

यह लिख कर इसकी वृत्ति में उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि वक्ता, प्रतिपाद्य, व्यंग्य, वाच्य, और प्रकरण आदि के औचित्य (महत्व) के कारण कहीं-कहीं दोष नहीं भी रहता है। यही नहीं कहीं दोष भी गुण हो जाता है। इस विषय का काव्यप्रदीप में पर्याप्त विवेचन किया गया है।

(२) विश्वनाथ का दूसरा आक्षेप यह है कि काव्यप्रकाशोक्त

इस लक्षण में जो 'शब्दार्थौ' का 'सगुणौ' विशेषण दिया गया है। अर्थात् 'ऐसे शब्द और अर्थ जो गुण सहित हों' यह कहा गया है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'गुण' केवल रस में ही रहते हैं—शब्द और अर्थ में नहीं। स्वयं काव्यप्रकाशकार ने भी—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः।'[†]

—काव्यप्रकाश उ ८।६६

इस कारिका में यही स्वीकार किया है कि जैसे चेतन आत्मा के शूरता आदि धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के प्रधान भूत रस के ही धर्म हैं। और रस में गुणों की अचल स्थिति रहती है। ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ को 'सगुणौ' (गुणयुक्त) किस प्रकार कहा जा सकता है ? यदि शब्द, अर्थ, रस के व्यञ्जक (प्रकट करने वाले होने के कारण रस के द्वारा इनमें गुण की स्थिति मानी जाय तो 'सरसौ' (स-रस) कहना अधिक युक्त है।" इसका उत्तर यह है कि जैसा कि काव्यप्रकाशोक्त लक्षण के स्पष्टीकरण में दिखाया गया है 'शब्दार्थौ' के प्रयोग द्वारा वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीनों प्रकार के अर्थों का ग्रहण है, जब कि

---

† काव्य के अङ्गी (प्रधान) स्थानीय शृङ्गार आदि रस के चेतन आत्मा के शूरता आदि की भांति उत्कर्ष करने वाले और रस में अचल स्थिति रहने वाले धर्म हैं वह गुण हैं।

व्यङ्ग्यार्थ द्वारा रस का ग्रहण भी हो गया तो फिर 'सरसौ' के प्रयोग की तो आवश्यकता ही कहाँ रही। अच्छा अब यदि यह कहा जाय कि फिर 'सगुणौ' का प्रयोग क्यों किया गया? जब कि व्यङ्ग्यार्थ में रस के साथ रसमें रहने वाले गुणोंका भी ग्रहण हो गया? इसका उत्तर यह है कि 'शब्दार्थौ' में रसके धर्म गुणों का ग्रहण अवश्य हो गया है। परन्तु 'शब्दार्थौ' के साथ जब तक 'सगुणौ' न कहा जाय, गुण-व्यञ्जक शब्दार्थ का ग्रहण केवल 'शब्दार्थौ' के प्रयोग द्वारा नहीं हो सकता। और काव्य में रस आदि वर्णनीय विषय के अनुकूल मधुर आदि गुण-व्यञ्जक रचना का होना भी परमावश्यक है इसीलिये वर्णनीय रस के प्रतिकूल शब्दार्थ रचना के होने में दोष माना गया है। अतएव यहां 'सगुणौ' का प्रयोग गुण-व्यञ्जक शब्दार्थ के लिये किया गया है। जैसा कि प्रदीपकार ने 'सगुणौ' की व्याख्या में स्पष्ट कहा है—

'गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम्।'

—प्रदीप पृ० १०

अच्छा यह तो हुआ विश्वनाथ के इस आक्षेप का उत्तर। अब इस प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर आक्षेप करने वाले विश्वनाथ से ही यह प्रश्न किया जा सकता है कि आपके–**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** इस काव्य-लक्षण में आपने रसात्मक वाक्य को ही काव्य बताया है। क्योंकि आपके इस लक्षण में बहुव्रीहि समास हो सकता है और बहु-व्रीहि समास में अन्य पद की प्रधानता रहती ही है। आपके इस

लक्षण में अन्य पद है 'वाक्य'। अतः 'वाक्य' पद प्रधान होने से इसका अर्थ यही होगा कि—'रस है आत्मा जिसका ऐसा 'वाक्य' काव्य है।' किन्तु 'वाक्य' भी तो शब्द-विशेष ही है। इससे सिद्ध हुआ कि आप भी शब्द–विशेष को ही काव्य बतलाते हैं। किन्तु शब्द तो आकाश का गुण है। और रस का स्वरूप जब आप—'सत्वोद्रेकाद-खण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' अर्थात् अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्व गुण के उद्रेक द्वारा साक्षात् होने वाला अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश रूप आनन्दमय और चिन्मय बतलाते हैं, तो रस के इस लक्षण के अनुसार ज्ञानस्वरूप रस का शब्द के साथ सम्बन्ध ही क्या ? यदि आप यह कहैं "शब्द में रस की स्थिति नहीं" तो फिर आप वाक्य को रसात्मक किस प्रकार कह सकते हैं ? जब किसी वस्तु विशेष का जिसमें अस्तित्व ही नहीं उस वस्तु को उसकी आत्मा किस प्रकार कहा जा सकता है ? यदि आप इस आपत्ति से बचने के लिये यह कहैं कि शब्द के साथ रस का उपचार (परम्परा) से सम्बन्ध कहा जा सकता है। तो ऐसी परिस्थिति में फिर आपका काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थौ सगुणौ' पर इतना अकाण्डताण्डव क्यों ? क्योंकि जब आप शब्द के साथ रस का परंपरया सम्बन्ध मानेंगे तो आपके मतानुसार शब्द के साथ गुणों का भी परम्परया सम्बन्ध मानना अनिवार्य होगा ? इसके सिवा काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में तो 'सगुणौ' के प्रयोग का उद्देश्य ही भिन्न है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है।

(३) विश्वनाथ का तीसरा आक्षेप 'अनलंकृती' के प्रयोग पर

यह है कि इस प्रयोग द्वारा अलङ्कार का भी काव्य के लक्षण में समावेश किया गया है। किन्तु जब स्वयं मम्मट अलङ्कारों को लौकिक आभूषणों की भांति काव्य के बाह्य शोभाकारक बताते हैं तो जिस प्रकार आभूषणों के न होने पर भी किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार अलङ्कार के बिना काव्य का भी काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता, फिर अलङ्कार का काव्य के स्वरूप लक्षण में सन्निवेश किया जाना अनुचित है।"

विश्वनाथ का यह आक्षेप भी निर्मूल है। मम्मटाचार्य ने क्या कहा है, वह तो आपने समझा ही नहीं और खण्डन कर भी दिया। बात यह है कि काव्यप्रकाश के अष्टमोल्लास में जहां गुण और अलङ्कार में क्या भेद है ? यह स्पष्ट किया है, वहां गुण और अलङ्कार दोनों को ही रसके उत्कर्षक बतला कर इन में यह भेद बताया है कि गुण तो रसके धर्म हैं। अतएव गुणों की रसके साथ अचल स्थिति रहने के कारण गुण रसके साक्षात् उत्कर्षक है। किन्तु अलङ्कार रस के धर्म नहीं अतः वे (अलङ्कार) रसके साक्षात् उत्कर्षक न होकर शब्दार्थ द्वारा परस्पर सम्बन्ध से रसका उत्कर्ष करते हैं। जैसे हार आदि आभूषण कण्ठ आदि में धारण करने पर पहिले कण्ठ आदि को शोभित करते हैं, फिर कण्ठ आदि के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से सारे शरीर को शोभित करते हैं। अतएव अलङ्कारों को रसके साथ अचल स्थिति नहीं—रस वाले काव्य में रसके साथ अलङ्कार रह कर भी कहीं शब्दार्थ द्वारा रस का उत्कर्ष करते हैं और कहीं नहीं भी करते। किन्तु मम्मट के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि केवल

अलङ्कार की स्थिति होने पर रस के बिना 'काव्य' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'काव्यत्व' तो चमत्कार पर निर्भर है। और वह (चमत्कार) या तो रस आदि व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति द्वारा या वाच्यार्थ रूप अलङ्कार की स्थिति द्वारा हो सकता है। इसीलिये मम्मट ने काव्य-लक्षण लिखने के बाद उसके स्वरूप को भली प्रकार समझाने के लिये काव्य को उत्तम, मध्यम और अधम तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। यदि केवल रस युक्त रचना को ही काव्य माना जाय तब तो नीरस रचना में जहाँ अलङ्कार की स्थिति होगी वहाँ काव्य माना ही नहीं जायगा। किन्तु सभी साहित्याचार्यों ने केवल अलङ्कारात्मक रचना में भी काव्य माना है। यही नहीं—काव्य का 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह लक्षण लिखने वाले और मम्मट पर आक्षेप करने वाले स्वयं विश्वनाथ ने भी अलङ्कारात्मक रचना में काव्यत्व स्वीकार करके ही साहित्यदर्पण के लगभग एक चतुर्थांश भाग में (दशम परिच्छेद में) अलङ्कार विषय का निरूपण किया है।

ऊपर के विवेचन द्वारा ज्ञात हो सकता है कि काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर कविराज विश्वनाथ द्वारा की गई आलोचना में कितना तथ्य है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने ध्वन्यालोक में काव्य-विषयक विवेचन के—'काव्यास्यात्मा ध्वनिरिति.........।' इत्यादि कारिकाओं में पूर्वापर विरोध दिखा कर ध्वनिकारों पर भी आक्षेप किया है। इस विषयपर विस्तार भय से अधिक न लिख कर यही कहना पर्याप्त है कि वह आक्षेप भी केवल उपहासास्पद है।

अच्छा, अब इस प्रसङ्ग में विश्वनाथ के—'वाक्यं रसात्मकं

काव्यम् ।' इस लक्षण पर भी—जिसको उसने पूर्वाचार्यों के लक्षणों को दूषित बताकर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोषों से निर्लिप्त बताया है विचार करना आवश्यक है कि वह कहांतक निर्दोष है। विश्वनाथ काव्य के लक्षण में रसात्मक वाक्य को ही काव्य स्वीकार करता है। प्रश्न होता है कि इस लक्षण के अनुसार जो रचना, वस्तु वर्णनात्मक अथवा अलङ्कार रचनात्मक होती हैं उनकी क्या दशा होगी ? आपके मतानुसार तो ऐसी रचना जिस में रस की स्थिति न हो काव्य न होगी। यदि आप यह कहें कि हम रस-रहित रचना को काव्य मानते ही कब हैं तो प्रश्न होता है कि आपने साहित्यदर्पण में ध्वनि-काव्य के भेदों के अन्तर्गत वस्तु-ध्वनि को क्यों स्वीकार किया ? यदि आप यह कहें कि वस्तु-ध्वनि में भी रसकी स्थिति, स्पष्ट न रहकर अस्पष्ट रूपमें रहती है, तो यह दलील आपकी नहीं चल सकती क्योंकि वस्तु-ध्वनि में प्रायः रसकी स्थिति सर्वथा नहीं भी होती। साहित्यदर्पण में ही आपने—

'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥'
—साहित्यदर्पण परिच्छेद ४

इस पद्य को अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि-काव्य के उदाहरण में दिखाया है। इसमें रसकी स्थिति कहां ? अतएव ऐसे काव्यों में आपके—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।' इस लक्षण की व्याप्ति न होने के कारण आपके इस लक्षण में अव्याप्ति दोष तो है ही इसके अतिरिक्त केवल लक्षण ही नहीं—'संसर्गजा दोषगुणाःभवन्ति ।' के अनुसार इस लक्षण

के निर्माता स्वयं आप(विश्वनाथ) भी व्याघात दोषात्मक व्याघ्र से पूर्णतया ग्रसित हो रहे हैं–भगवन् त्राहि त्राहि !!! खेद है कि विश्वनाथ ने काव्य के लक्षण में काव्य को 'रसात्मक' कहकर भी–

'यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव ।'

—साहित्यद० परि० १

इस वाक्य में रस-रहित रचना को भी वह स्वयं गौण काव्य और काव्य में दोष का अभाव होना भी स्वीकार करता है । अर्थात् विश्वनाथ ने रसकी जिस शृङ्खला में काव्य को बाँधा था, उस शृङ्खला में वह जब बंधा हुआ न रह सका तो अगत्या स्वयं विश्वनाथ को ही उस (रस शृङ्खला) से काव्य को निर्मुक्त करना पड़ा । केवल यही नहीं प्रत्युत जिस मम्मट का विश्वनाथ प्रतिपक्षी हो रहा था उसी (मम्मट) का उसे अनुगामी भी होना पड़ा है । क्योंकि विश्वनाथ को भी 'रसात्मक' काव्य के अतिरिक्त वस्तु वर्णनात्मक और अलङ्कार रचनात्मक काव्य का एक गौण भेद स्वीकार करना ही पड़ा* । जिसको मम्मटाचार्य ने अपने काव्य लक्षण को

* यद्यपि विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश के अनुसार काव्य के तीन भेद न मान कर दो ही उत्तम और गौण—भेद माने हैं—तीसरा भेद अधम, नहीं । पर यह भी विश्वनाथ के विवेचन में उल्लेखनीय त्रुटि है क्योंकि गुणीभूतव्यंग्य और व्यंग्य-रहित वाच्यार्थात्मक अलङ्कारादि युक्त काव्य का अन्तर सहृदय काव्य-मर्मज्ञों को प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है ।

स्पष्टता करते हुए पहिले ही निर्दिष्ट कर दिया था। ऐसी परिस्थिति में साहित्य के न्यायालय में विश्वनाथजी लगा रहे थे आचार्य मम्मट पर अभियोग किन्तु स्वयं विश्वनाथ अभियुक्त हो गये। विश्वनाथ के सभी आक्षेप उसी की साक्षी द्वारा निर्मूल सिद्ध हो गये प्रत्युत आपका लक्षण अव्याप्ति दोष-पूर्ण सिद्ध हो गया। महाकवि कालिदास की—'के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः।' यह उक्ति चरितार्थ हो गई।

अच्छा आइये, अब काव्यप्रकाशोक्त लक्षण पर पण्डितराज जगन्नाथ की आलोचना भी देखिये। काव्यप्रकाश के लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थौ' द्वारा शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना गया है इस पर पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि लोक-व्यवहार में 'काव्य उच्च स्वर से पढ़ा जा रहा है' 'काव्य से अर्थ समझा जाता है' 'काव्य सुना तो सही पर अर्थ समझ में नहीं आया' इस प्रकार कहा जाता है इससे एक प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है—न कि अर्थ। यदि यह कहा जाय कि लोक-व्यवहार में काव्य के लिये केवल शब्द का प्रयोग लाक्षणिक समझना चाहिये, पर यह तो तभी हो सकता है, जब पहिले किसी दृढ़ प्रमाण से यह सिद्ध हो जाय कि 'काव्य' शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों के लिये ही होता है। किन्तु ऐसा प्रमाण ही तो हमारे दृष्टि-गत नहीं है। यदि इसके प्रमाण में काव्यप्रकाश का ही मत आप दें तो वह तो हम किस प्रकार मान्य कर सकते हैं—जब कि उसके तो हम प्रतिपक्षी ही हैं। अतएव लोक व्यवहार के प्रमाण द्वारा हमारे मतानुसार केवल शब्द-

विशेष ही काव्य सिद्ध होता है, न कि काव्यप्रकाश के मतानुसार शब्द और अर्थ दोनों। अतएव वेद, शास्त्रादिकों की भांति काव्य के लक्षण में भी केवल शब्द का ही प्रयोग उचित है, न कि शब्द–अर्थ दोनों का।

पण्डितराज द्वारा किये गये इस आक्षेप का खण्डन रसगङ्गाधर के टिप्पणी (संक्षिप्त व्याख्या) कार श्री नागेश भट्ट ने ही संक्षिप्त में बड़ा उपयुक्त कर दिया है। श्री नागेश भट्ट कहते हैं "जिस प्रकार लोक-व्यवहार में 'काव्य पढ़ा' 'काव्य सुना' इत्यादि प्रकार से कहा जाता है उसी प्रकार 'काव्य समझा' इस प्रकार भी लोक-व्यवहार में कहा जाता है। समझना केवल अर्थ का ही होता है—न कि शब्द का। अतएव शब्द और अर्थ दोनों को सम्मिलित रूप में काव्य कहा जाता है, न कि केवल शब्द मात्र को। वेदशास्त्रादिक भी केवल शब्द की संज्ञा नहीं है, शब्द और अर्थ दोनों की मिश्रित रूप में ही वेद, शास्त्र आदि संज्ञा है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने 'तदधीते तद्वेद' इस पाणनीय सूत्र की व्याख्या में शब्द-अर्थ दोनों को वेदादि रूप माना है।"

इसके अतिरिक्त पण्डितराज ने भी यह आक्षेप किया है कि काव्यप्रकाशोक्त लक्षण में गुण और अलङ्कार का समावेश क्यों किया गया ? किन्तु फिर इस विषय में स्वयं पण्डितराज ने इस आक्षेप को निर्बल समझ कर —

'काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चावशिष्टमेव।
गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च* ।'

—रसग० पृ० ७

इन वाक्यों में इस आक्षेप की उपेक्षा कर दी है।

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि काव्यप्रकाशोक्त काव्य-लक्षण ही आलोचना की कसौटी पर उत्तीर्ण होकर निर्दोष प्रमाणित हो सकता है।



काव्य के सम्प्रदाय

उपर्युक्त काव्य की विभिन्न परिभाषाओं के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि रस, अलङ्कार, गुण (या रीति) और ध्वनि आदि जो काव्य के प्रधान विषय हैं, उनकी प्रधानता के विषय में साहित्याचार्यों के विभिन्न मत हैं, अतएव रस आदि सिद्धान्तों के प्राधान्य को लेकर विभिन्न सम्प्रदाय प्रचलित हो गये हैं, जैसा कि पहिले कह चुके हैं। इन सिद्धान्तों में अपने स्वीकृत सिद्धान्त का स्वरूप और उसकी प्रधानता

* इसका अर्थ यह है कि काव्य अथवा रस के धर्मों का नाम गुण और काव्य के शोभाकारक का नाम अलङ्कार माना जाय तो इनका प्रयोग काव्य-लक्षण में किया जा सकता है।

आचार्यों ने किस प्रकार प्रतिपादन की है अब इसका विवेचन किया जाता है। काव्य के सभी सिद्धान्त स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से वस्तुतः रसास्वाद पर ही निर्भर हैं अतएव सर्व प्रथम रस सम्प्रदाय का निदर्शन कराया जाना ही प्रकरणोपयोगी और समुचित है।



रस सम्प्रदाय

रस का महत्व

रस का महत्व अनादिकाल से प्रतिपादित है। भगवती श्रुति कहती है—

'रसो वै सः रसᳫंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'।

—तैत्तरीय उपनिषत्

अलङ्कार शास्त्र में भी रस ही सर्वोपरि पदार्थ स्वीकार किया गया है। श्री भरतमुनि ने रस पर विवेचन करते हुए लिखा है—

'तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः।
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'

—नाट्यशा० अ० ६

भगवान् श्री वेदव्यासजी ने भी रस को सर्वोपरि महत्व देते हुए आज्ञा की है—

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।'

—अग्निपु० ३३७।३३

साहित्याचार्यों में सर्व प्रधान ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त का मूल-तत्व रस को ही मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। उन्होंने श्री वाल्मीकीय रामायण के—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्' ॥

इस पद्य में जो करुण रस ध्वनित होता है, उसी को काव्य की आत्मा बतलाई है*। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है—

'यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते ।'

—ध्वन्या० पृ० २२१

महाकवि मंखक कहता है—

'तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि नूनं बिना धनरसप्रसराभिषेकं काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबंधः'

—श्रीकण्ठचरित २।३२

एक अज्ञात काव्य मर्मज्ञ ने कहा है—

'अस्तिचेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथा इव ।
नास्तिचेद्रससम्पत्तिः अलङ्कारा वृथैव हि ।'

---

* देखिये ध्वन्यालोक पृ० २६ काव्यमाला संस्करण ।

निष्कर्ष यह कि काव्य का रस ही प्राण है।

रस सम्प्रदाय के आचार्य

साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में रस विषयक विवेचन सबसे प्रथम श्री भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में दृष्टिगत होता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के—'अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः'–(६।३३) इत्यादि रस प्रकरण के वाक्यों द्वारा विदित होता है कि रस का विवेचन भरत के प्रथम भी अन्य आचार्यों द्वारा किया गया है, किन्तु जब कि उनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, रस सम्प्रदाय के आद्याचार्य श्री भरतमुनि ही कहे जा सकते हैं।

'रस' शब्द का अर्थ

प्रथम यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि 'रस' शब्द का अर्थ क्या है। धातु पाठ में कहा है—'रस आस्वादे'। अर्थात् रस का अर्थ स्वाद लेना है। और स्वाद का अर्थ है रस का ग्रहण करना—'स्वादो रस ग्रहणे'। लौकिक रसों—मधुर आम्ल आदिकों का ग्रहण जिह्वा द्वारा किया जाता है। और काव्य-विषयक शृङ्गा-रादि रसों का आस्वाद 'रति' आदि स्थायी भावों के रस रूप में अभि-व्यक्त होने पर मनसे किया जाता है।

रस की निष्पत्ति

रस की निष्पत्ति के विषय में महामुनि भरत ने रस सिद्धान्त का मूल—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' ।

—नाट्यशास्त्र अध्या० ६

यह सूत्र लिखा है, इसका अर्थ यह है कि विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है । इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' यह दो पद बड़े महत्व के हैं । इनके वास्तविक अर्थ के विषय में बड़ा ही मतभेद है । इस सूत्र की व्याख्या के विवेचन में साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का महत्वपूर्ण भाग है । इसके प्रथम कि इस सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं का दिक्-दर्शन कराया जाय, इस सूत्र में कहे हुए विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और स्थायी भाव क्या पदार्थ हैं, यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं पर रस की निष्पत्ति निर्भर है, आचार्य मम्मट ने कहा है—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च ।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।
विभावाअनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' ।।

—काव्यप्र० २७,२८

लोक व्यवहार में जो कारण, जो कार्य, और जो सहकारी कारण होते हैं वे जब नाटक एवं काव्य में रति आदि स्थायी भाव के होते हैं, तब उन्हें कारण, कार्य और सहकारी कारण न कह कर क्रमशः विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं । और उन विभाव आदि द्वारा जो स्थायी भाव व्यक्त होता है, वह 'रस' कहा जाता है ।

स्थायी भाव

विशेष प्रकार की चित्त की वृत्ति—मनो-विकार को ही नाट्य और काव्य में स्थायी भाव कहते हैं। जैसे नायक और नायिका की परस्पर में एक की दूसरे में रति अर्थात् प्रेम अथवा अनुराग होना एक प्रकार की चित्तवृत्ति (मनोविकार) है। उसी को शृङ्गार रस का स्थायी भाव कहा जाता है। इसी प्रकार हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, और शम यह मनोविकार क्रमशः हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त रस के स्थायी हैं।

विभाव

रति आदि स्थायी भावों के जो कारण होते हैं—जिनके द्वारा सामाजिक जनों के (काव्य के पढ़ने और सुनने वालों और नाटक के देखने वालों के) आत्मा में वासना * रूप से स्थित रहने वाले रति आदि स्थायी भाव (मनोविकार) उत्तेजना को प्राप्त हो जाते हैं—जागृत हो जाते हैं, उन्हें ही विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव—जिसका आलम्बन करके रति आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं वे आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। जैसे शृङ्गार रस के स्थायी 'रति' के आलम्बन नायक

*** वासना क्या वस्तु है इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।**

और नायिका हैं क्योंकि ये जब परस्पर में देखते सुनते और स्मरण आदि करते हैं तब एक का दूसरे पर प्रेम उत्पन्न होता है। प्रत्येक रस के आलम्बन विभाव भिन्न-भिन्न हैं।

उद्दीपन विभाव—जो रति आदि मनोविकारों को अतिशय उद्दीपन करते हैं—बढ़ाते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। जैसे वेशभूषणादि की सुन्दर रचना, पुष्पवाटिका, एकान्त-स्थल, कोकिलादि पक्षियों का मधुर आलाप, चन्द्रोदय, और शीतल पवन आदि शृङ्गार रस के उद्दीपन विभाव हैं। क्योंकि यह उत्पन्न हुए रति आदि मनोविकारों को बढ़ाने वाले हैं। यदि उत्पन्न मनोविकारों को उद्दीपक सामग्री द्वारा उत्तेजना प्राप्त न हो तो वह अनुत्पन्न के समान ही रहते हैं, जैसे उत्पन्न अंकुर को जल न मिले तो वह नष्ट हो जाता है। अतः इनको भी स्थायी भाव के कारण विभाव ही स्वीकार किये गये हैं। प्रत्येक रस के उद्दीपन विभाव भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

अनुभाव

'अनु' का अर्थ है पश्चात् अर्थात् विभाव के पीछे यह अनुभाव उत्पन्न होते हैं। यह 'रति' आदि उत्पन्न स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं, फलतः अनुभाव ही स्थायी भाव को बोध-गम्य बनाते हैं, क्योंकि नायिका आदि आलम्बन और चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक आदि के जो रति आदि मनोविकार उत्पन्न और परिवर्तित होते हैं, उन मनोविकारों का जब तक कटाक्ष और हस्त-संचालन

(हाथों की चेष्टाएं) आदि चेष्टाएं न हों, स्वयं नायक नायिकादिकों को तथा समीपस्थ जनों को ज्ञान नहीं हो सकता। अनुभाव असंख्य हैं। शृङ्गार रस के मुख्य २८ अनुभाव और ८ सात्विक भाव माने गये हैं*।

व्यभिचारी भाव

यह स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। अर्थात् नायक-नायिका के परस्पर में प्रेम होने पर उन दोनों को मिलने की अभिलाषा होती है तब उसके लिये चेष्टा की जाने पर जो चिन्ता आदि चित्त की वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, वे व्यभिचारी कहे जाते हैं। यह अवस्था विशेष में (खास-खास अवसर पर) उत्पन्न होकर स्थायी भाव को सहायता करके लुप्त होते रहते हैं—स्थायी भाव की तरह रस की स्थिति तक स्थिर नहीं रहते। जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग कभी उठती और कभी लीन होती रहती हैं और उसका उत्कर्ष करती रहती हैं, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव भी स्थायी भाव में उत्पन्न और लीन होते हुए उसे पुष्ट करते हैं। यह बिजली की तरह चमक कर लुप्त होते रहते हैं और सभी रसों में यथासंभव सञ्चार करते हैं, इसलिये इनको संचारी भी कहे जाते हैं, इनकी संख्या ३३ है।

* अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों की स्पष्टता विस्तार भय से यहां नहीं की गई है। इनका विस्तृत विवेचन काव्य-कल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के प्रथम भाग 'रसमञ्जरी' में देखिये।

विभावादिकों की संक्षिप्त स्पष्टता यही है।

भरत सूत्र पर व्याख्याकारों के विभिन्न मत

अब पूर्वोक्त—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

इस भरतसूत्र की विभिन्न व्याख्याओं को देखिये—

(१) भट्ट लोल्लट का आरोपवाद। भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याकार मीमांसक भट्ट लोल्लट हैं। लोल्लट का मत है कि 'शकुन्तला' के अभिनय में जो दुष्यन्त पर शकुन्तला विषयक दुष्यन्तके प्रेम का अभिनय दिखाया जाता है या काव्य में वर्णन किया जाता है वह प्रेम यद्यपि मुख्यतया दुष्यन्त से ही सम्बन्ध रखता है। क्योंकि शकुन्तला विषयक प्रेम का नट के साथ सम्बन्ध ही क्या है। किन्तु सामाजिक जन (नाटक को देखने और काव्य को पढ़ने वाले लोग) दुष्यन्त के रूप में नटको देख कर उस नट पर दुष्यन्त का आरोप [१] कर लेते हैं— वास्तव में दुष्यन्त न होने पर भी नटको दुष्यन्त मान लेते हैं। और नाट्य-कला के सौन्दर्य से नट के अन्दर शकुन्तला विषयक प्रेम (वास्तविक न होने पर भी) 'है' ऐसा सामाजिकों को प्रतीत होने पर वे रस का अनुभव करने लगते हैं।

[१] आरोप का अर्थ है—किसी एक वस्तु को वस्तुतः न हुई दूसरी वस्तु मान लेना जैसे दुष्यन्त के रूपधारी नटको—दुष्यन्त से भिन्न जानते हुए भी दुष्यन्त मान लेना।

(२) श्री शंकुक का अनुमानवाद। नैय्यायिक शंकुक भरत सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार हैं। इनका कहना है कि भट्ट लोल्लट ने जो नट में दुष्यन्तादि के आरोप में रसास्वाद बताया है वह ठीक नहीं। क्योंकि जिस व्यक्ति में रति आदि स्थायी भाव होगा उसी को उद्भूत रति का रसास्वाद हो सकता है। जैसे जहां धुंआ होगा वहीं अग्नि हो सकता है न कि धुंआ अन्यत्र और अग्नि अन्यत्र। अतएव जिनकी वास्तविक रति है, उन दुष्यन्तादि से सामाजिक भिन्न हैं और जो दुष्यन्तादिक का अभिनय करने वाले नाटक के पात्र हैं उनसे भी वे भिन्न हैं, तब सामाजिकों को रसास्वाद किस प्रकार हो सकता है। यदि आरोप ज्ञान मात्र से ही रसानुभव माना जाय तो शृङ्गारादि रसों के ज्ञान मात्र से—नाम सुनने और अर्थ समझ लेने से ही रसानुभव होना चाहिये—सुख के नाम मात्र से सुख भी होना चाहिये पर ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार भट्ट लोल्लट के मत का खण्डन करके श्री शंकुक ने सूत्र की व्याख्या यह की है कि वास्तविक रस दुष्यन्तादि में रहता है पर नटमें उसका अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् लौकिक में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—(१) सम्यक्, (यथार्थ), (२) मिथ्या, (३) संशय और (४) सादृश्य जैसे—

(१) सम्यक् ज्ञान—देवदत्त को देवदत्त समझना।

(२) मिथ्या ज्ञान—जो देवदत्त है उसको देवदत्त न समझना।

(३) संशय ज्ञान—यह देवदत्त है या नहीं।

(४) सादृश्य ज्ञान—यह देवदत्त के समान है।

इन लोक-प्रसिद्ध चारों ज्ञानों से विलक्षण एक और भी 'चित्रतुरग' ज्ञान है। अर्थात् घोड़े का चित्र देख कर 'यह घोड़ा है'। ऐसा ज्ञान होना। बस इसी ज्ञान के अनुसार सामाजिक लोग नट को दुष्यन्त आदि अनुमान कर लेते हैं। फिर अनुमान किये गये नट में रति आदि स्थायी भाव भी अनुमान कर लिये जाते हैं। यद्यपि अन्य विषयक अनुमान में सुख का अनुभव करने से सुख नहीं मिलता, जैसे ग्रीष्म-कालिक पथिक को बट—छाया के अनुमान द्वारा न उसका ताप मिट सकता है और न सुख ही हो सकता है। किन्तु काव्य-नाटकों के सौन्दर्य के विलक्षण प्रभाव द्वारा अनुमान किया गया आनन्द भी सहृदय सामाजिकों की वासना के कारण आस्वादनीय बन जाता है। क्योंकि काव्य में विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी के संयोग से गम्य-गम्यक ※ भाव सम्बन्ध से और शिक्षित नट के कार्य-कौशल से प्रदर्शित किये जाने के कारण विभावादि कृत्रिम (बनावटी) होने पर भी काव्य के अनुसन्धान † बल से कृत्रिम नहीं समझे जाते।

(३) भट्ट नायक का भुक्तिवाद। भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याकार सांख्य मतानुयायी भट्ट नायक का कहना है कि श्री शंकुक के मतानुसार अनुमिति ज्ञान में भी चमत्कार नहीं, प्रत्यक्ष-ज्ञान ही

※ गम्य-गम्यक भाव भी धुंआ और अग्नि की भांति व्याप्ति सम्बन्ध ही है अर्थात् जहां विभावादि हों वहां रति आदि स्थायी भाव भी अवश्य हों यह सम्बन्ध।

† कवि के अभीष्ट अर्थ का साक्षात् करना।

चमत्कारक है। क्योंकि अन्य के आत्मा में स्थित (दुष्यन्तादि के आत्मा में स्थित शकुन्तला विषयक) प्रेम जन्य आनन्द का अन्य के आत्मा में (अनुकरण करने वाले नटों में और सामाजिकों के आत्मा में) अनुमान कदापि नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अन्य के (शकुन्तला-विषयक दुष्यन्तादि के) आत्मा में स्थित 'रति' की प्रतीति सामाजिकों को आत्मगतत्वेन होती है, तो उसमें अनेक दोष हैं। कहां वे धर्मात्मा यशस्वी सम्राट और कहां वर्तमानकालिक हम क्षुद्र जीव ? शकुन्तला विषयक प्रेम का हमारे हृदय में उदय होना एक वार ही पाप-वृत्ति है। क्योंकि जिसे हम अपना प्रेम-पात्र बनाना चाहें उसमें हमारे प्रेम-पात्र होने की योग्यता होना भी आवश्यक है। केवल स्त्री होना ही पर्याप्त नहीं, स्त्री तो भगिनी आदि भी होती हैं अतः शकुन्तलादि, सामाजिकों के प्रेम का आलम्बन कदापि नहीं हो सकते। और आलम्बन के बिना रति स्थायी का आविर्भाव ही नहीं होता, तब रस का आस्वाद कहां ? इस प्रकार अनुमति ज्ञान द्वारा रसास्वाद का खण्डन करने के बाद भट्ट नायक अपने मत से सूत्र की व्याख्या यह करते हैं कि सूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक भाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ भुक्ति (भोग) है। अर्थात् काव्य की क्रियाएं ही रस के उद्‌बोध का कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। शब्द के तीन व्यापार हैं—'अभिधा, भावना, और भोग—

(१) 'अभिधा' द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है।

(२) 'भावना' का व्यापार है साधारणी करण। इस व्यापार द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्‌भूत 'रति' आदि स्थायी भाव, व्यक्ति-

गत सम्बन्ध छोड़ कर सामान्य रूप में प्रतीत होने लगते हैं। जैसे दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम का इन दोनों से (दुष्यन्त-शकुन्तला से, व्यक्ति-गत सम्बन्ध न रह कर सामान्य दाम्पत्य-प्रेम की प्रतीति होना। इस 'भावना' व्यापार द्वारा 'रति' आदि भाव साधारण हो जाने पर अगम्या होना आदि विरोधी ज्ञान हट जाते हैं फल यह होता है कि वह 'भावना, सब पदार्थों को साधारण बना देती है अतः उनमें किसी व्यक्ति विशेष या देशकाल आदि का सम्बन्ध प्रतीत न होकर रसास्वाद का प्रतिकूलावरण हट जाता है।

(३) 'भोग, व्यापार द्वारा भावना के महत्व से अर्थात् अपना और परायापन दूर हो जाने पर साधारणी-कृत विभावादि से सामाजिकों को रसास्वाद होने लगता है। भोग का अर्थ है †—'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दसंविद्विश्रान्तिः।, अर्थात् सत्वगुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाशरूप आनन्द का ज्ञान—आनन्द का अनुभव। और वह आनन्दानुभव वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य है अर्थात् अन्य सम्बन्धी ज्ञान से रहित होता है। अतएव यह लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है, बस इसी भोग व्यापार द्वारा रसका आस्वाद होता है। भट्ट नायक के मत

---

† सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक का अर्थ है अपने से भिन्न दो गुणों, का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्वोद्रेक का स्वभाव आनन्द का प्रकाश करना है और आनन्द का अनुभव 'भोग' है।

का निष्कर्ष यह है कि काव्य और नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य होते हैं—पहिले उसका अर्थ समझा जाता है, फिर उसकी भावना अर्थात् चिंतन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह नहीं समझ पाते कि काव्य-नाटकों में सुना और देखा जाता है वह किसी दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है या हमारा ही है। इसके बाद सत्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण दब जाने पर आत्म-चैतन्य से प्रकाशित साधारणीकृत (साधारण रूप में उपस्थित) रति आदि स्थायी भावों का सामाजिक जन आनन्दानुभव करने लगते हैं, वही रस है। और वह रस-जन्य आनन्दानुभव ब्रह्मानन्द का समीप-वर्ती कहा जाता है। इनमें भेद केवल यही है कि रसास्वाद 'रति' आदि विषयों से मिला हुआ रहता है और ब्रह्मानन्द विषयों से सर्वथा रहित होता है।

(४) अभिनवगुप्तपादाचार्य का व्यक्ति वाद और उसका आचार्य मम्मट द्वारा* स्पष्टीकरण—

नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव भारती' व्याख्या के लेखक श्री अभिनव-गुप्तपादाचार्य ने उपर्युक्त भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक और भट्ट नायक तीनों के मतों का खण्डन करते हुए भट्ट नायक के मत की आलोचना† में कहा है कि स्थायी भाव और विभावादिक में वस्तुतः व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यञ्जना नामक एक

---

* देखो काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास।

† देखो अभिनव भारती पृ० २७४ और २७८-२८० तथा ध्वन्यालोक पृ० ६८-७०

अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, उसी के द्वारा रस की अभिव्यक्ति (निष्पत्ति) होती है। भट्ट नायक ने जो भावना और भोग नाम की दो क्रियाएं मानी हैं, वे कल्पना मात्र हैं अन्ततः भावना और भोग का समावेश हमारे व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव-सम्बन्ध में—ध्वनि सिद्धान्त में हो जाता है—

'त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति।
भोगोऽपि···लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः।'

—ध्वन्यालोक पृ० ७०

श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है कि 'रति' आदि स्थायी भाव सामाजिकों[1] के अन्तःकरण में वासना[2] रूप से सूक्ष्मतया स्थित

१ अभिनवगुप्तपादाचार्य, सामाजिकों से ऐसे काव्य के पाठक या श्रोता और नाटक के दर्शकों का ग्रहण करते हैं, जो नायक-नायिकादि की परस्पर की हुई चेष्टाओं द्वारा उनके प्रेमादि का तत्काल अनुभव करने में दक्ष हों।

२ किसी व्यक्ति ने इस जन्म में या जन्मांतर में अपनी कान्ता आदि में रति आदि का कभी अनुभव किया है, उस अनुभव से उसके अन्तःकरण में एक संस्कार उत्पन्न हो जाता है। उसी संस्कार को वासना कहते हैं। उस संस्कार (वासना) के कारण पूर्वानुभूत उसी के समान किसी वस्तु को कालान्तर में देखने या सुनने पर वह संस्कार जागृत हो जाता है। और उसे वैसा ही कुछ अनुभव होने लगता है कि मानों कान्ता आदि

रहते हैं किन्तु वह अव्यक्त (अप्रकट) रहते हैं—प्रतीत नहीं होते, जैसे मिट्टी के बरतन में गन्ध रहता हुआ भी अव्यक्त रहता है, किन्तु जब उसके साथ जल का संयोग होता है, तत्काल वह (गन्ध) प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के अन्तःकरण में वासनात्मक अव्यक्त रूप से स्थित रहता हुआ 'रति' आदि स्थायी भाव (मनोविकार) जब काव्य का पठन या श्रवण अथवा नाटक का प्रदर्शन होता है तब व्यञ्जना* के अलौकिक विभावन व्यापार द्वारा जागृत हो जाता है (वह जागृति या उत्तेजना दृश्य काव्य—नाटकादि में शब्द और पात्रों की शारीरिक चेष्टाओं द्वारा और श्रव्य-काव्य में केवल शब्द द्वारा होती है) और स्थायी भाव के आनन्द का अनुभव होने लगता है, बस वही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है।

व्यञ्जना वृत्ति के जिस विभावन को अलौकिक व्यापार कहा गया है वह वही विभावादि में साधारणीकरण का चमत्कार है, जिसके द्वारा विभावादिकों का (दुष्यन्त शकुन्तलादि का) व्यक्ति-गत सम्बन्ध (अपना और परायापन) दूर होकर सामाजिकों को विभावादि के साथ अभिन्नता उपलब्ध होती है। निष्कर्ष यह कि इस विभावन व्यापार

उसी प्रकार के विद्यमान है और मैं उनका लाभ उठा रहा हूँ। यही वासना जब विभावादि व्यञ्जकों से अभिव्यक्त (प्रकट) होती है तब उसको रस का आस्वाद कहते हैं।

* 'व्यञ्जना' वृत्ति की स्पष्टता आगे ध्वनि सम्प्रदाय में की जायगी।

द्वारा अर्थात् साधारणीकरण द्वारा ही अपनी-अपनी आत्मा में ही स्थित रति आदि स्थायी भाव के रसास्वाद का चर्वण (अनुभव) होता है ।

भट्ट नायक और अभिनवगुप्तपादाचार्य

भट्ट नायक और अभिनवगुप्तपादाचार्य के मत में भेद यह है कि रस की निष्पत्ति में साधारणीकरण का महत्व तो भट्ट नायक और श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य दोनों ही मानते हैं, किन्तु भट्ट नायक उस साधारणीकरण को 'भावना' का व्यापार बताते हैं और श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य उसे व्यञ्जना का व्यापार बताते हैं । यह तो हुआ रस की निष्पत्ति विषयक विवेचन ।

रस का आस्वाद

रस के आस्वाद के विषय में अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मटाचार्य कहते हैं कि रस का आस्वाद वेद्यान्तरसंपर्कशून्य होता है अर्थात् किसी दूसरी वस्तु के सम्बन्ध-रहित होता है । और वह 'रस' स्वाकार[1]

---

[1] जिस प्रकार दर्पण के सम्मुख कोई वस्तु हो उसका प्रतिबिम्ब दर्पण पर पड़ता है तब (यदि उस वस्तु पर ध्यान न दिया जाय और दर्पण पर ही ध्यान दिया जाय तो) वह प्रतिबिम्बित आकार उस दर्पण का ही प्रतीत होता है यद्यपि वह दर्पण से भिन्न (दूसरी वस्तु) है । किन्तु उस वस्तु को दर्पण के सामने से हटा दी जायगी तो वह प्रतिबिम्ब न रहेगा । किन्तु जब तक

के समान अभिन्न होने पर भी विषय-भूत * होता है अर्थात् रस, ज्ञान-स्वरूप होने पर भी स्वयं भी प्रकाशित होता है। रस का प्राण एक मात्र चर्वणा (आस्वाद) ही है और चर्वणा की पूर्वापर अवधि विभावादिकों पर निर्भर है। एवम्भूत

वह वस्तु दर्पण के सामने रहेगी, वह दर्पण की सम्पत्ति और उसीका स्वरूप समझा जायगा। उसी प्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान है, वह दर्पण के समान स्वच्छ है, उसमें जो वस्तु प्रतीत होती है वह दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह उसका आकार बन जाती है अतएव आत्मा में जबतक कोई वस्तु प्रतीत होगी, आत्मा तदाकार प्रतीत होगा इसी न्याय से रति आदि स्थायी भाव रस एवं भाव अवस्था में आत्मा के आकार से भिन्न होने पर भी अभिन्न प्रतीत होते हैं, अतः रस को स्वाकार के समान अभिन्न कहा गया है।

* प्रश्न होता है कि 'रस' जब ज्ञान से अभिन्न है तो वह (रस) विषय रूप प्रतीत न होना चाहिये, इस पर कहा गया है कि नहीं, रस, विषय रूप प्रतीत भी होता है क्योंकि स्वप्रकाश मत का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार सूर्य, घट, पट आदि अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अपने आपको भी स्वयं प्रकाशित करने में समर्थ है अतः इस सिद्धान्त के अनुसार रस स्वप्रकाश होने पर भी विषयीभूत होता है।

रस का आस्वाद पानक रस के समान है अर्थात् जिस प्रकार इलायची, मिरच, शर्करा, कपूर आदि के मिश्रण से बने हुए विशेष पेय रस का* आस्वाद एक विलक्षण प्रकार का हो जाता है—उसमें पृथक्-पृथक् किसी वस्तु के आस्वाद का ज्ञान न होकर एक खास आस्वाद हो जाता है- उसी प्रकार स्थायी भाव की रस अवस्था में विभावादि का पृथक्-पृथक् ज्ञान न होकर इन सब का एकीभूत रस रूप आस्वाद प्राप्त होता है। वही श्रृङ्गारादि रस है। वह रस आस्वादित होता हुआ, सम्मुख जैसा स्फुरण करता हुआ (प्रतीत होता हुआ) हृदय में प्रवेश करता हुआ जैसा, सब अङ्गों को आलिङ्गन करता हुआ जैसा, अन्य विषयों को तिरोहित करता (छिपाता) हुआ जैसा, ब्रह्मानन्द के आनन्द का अनुभव करता हुआ जैसा, अलौकिक चमत्कारक होता है।

'रस' कार्य और ज्ञाप्य नहीं

उपर्युक्त भरत सूत्र में विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति कही गई है। अर्थात् विभावादि का संयोग 'कारण' और 'रस' उसका कार्य बतलाया गया है इस पर विवेचन करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य और आचार्य मम्मट ने लिखा है कि वस्तुतः रस को कार्य और विभावादिकों को उसके कारण (हेतु) नहीं कहे जा सकते क्योंकि हेतु दो प्रकार के होते हैं—कारक-हेतु और ज्ञापक-हेतु। किन्तु न तो रस के विभावादि कारक-हेतु ही हैं और न ज्ञापक-हेतु,

* जीरे के जल आदि पीये जानेवाले पदार्थ का।

क्योंकि विभावादिकों को कारक या ज्ञापक हेतु तो तब कहे जा सकते हैं जब रस कार्य हो या ज्ञाप्य। किन्तु रस न कार्य ही है और न ज्ञाप्य ही। यदि रस को कार्य रूप माना जाय तो विभावादिकों के नाश होने पर भी वह (रस) वर्तमान रहना चाहिये। क्योंकि लौकिक में कारण के नाश होने पर कार्य वर्तमान रहता है जैसे घट के कारण कुम्हार और उसका दण्ड-चक्र आदि के नष्ट होने पर घट बना रहता है। किन्तु रस की स्थिति विभावादि के नष्ट होने पर नहीं रह सकती अतः रस को 'कार्य' नहीं कह सकते। और यदि रस को ज्ञाप्य माना जाय तो ज्ञाप्य वस्तु की भी ज्ञापक के अभाव में स्थिति रहती है, जैसे सूर्य ज्ञापक है और घट ज्ञाप्य, सूर्य के न रहने पर भी घट की स्थिति रहती है, किन्तु विभावादि के बिना रस का वर्तमान रहना संभव नहीं, अतः रस को ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते। यदि यह कहा जाय कि कारक और ज्ञापक से भिन्न अन्यत्र ऐसा कहां देखा जाता है, तो इसका उत्तर यही है कि 'कहीं नहीं' बस यही तो रस में अलौकिकता है। अतः यह रस का भूषण है, न कि दूषण। अच्छा, तो फिर प्रश्न होता है कि रस को कार्य नहीं मानते हो तो भरत सूत्र में विभावादि (कारण) द्वारा रस (कार्य) की उत्पत्ति क्यों कही गई है, उसका क्या समाधान है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि रस सूक्ष्म स्थायी रूप से नित्य है—नित्य वस्तु की वास्तव उत्पत्ति नहीं, किन्तु चर्वणा (आस्वाद) की उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ सा और उस (चर्वणा) के नष्ट होने के साथ वह (रस) नष्ट हुआ सा ज्ञात होता है अतः चर्वणा की उत्पत्ति को लेकर रस की

उत्पत्ति लोक व्यवहार में जो कही जाती है, वह औपचारिक[1] है। इस परिस्थिति में यदि रस को कार्य कहना चाहो तो कह सकते हो। और इसी प्रकार लोक-प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि[2] ज्ञान मित-योगी का ज्ञान एवं परिपक्व योगी का ज्ञान इन तीनों ही ज्ञानों से बिलक्षण रस सहृदयों का ज्ञान है अर्थात् रस अलौकिक ज्ञान का बिषय है, इस अवस्था में यदि रस को ज्ञाप्य भी कहना चाहो तो कह सकते हो। किन्तु रस को इस परिस्थिति में भी—यदि ज्ञाप्य माना जाय तो भी वह निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ही ज्ञानों का विषय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि रस का ज्ञान विभावादिकों के ज्ञान से उत्पन्न होता है और विभावादिकों का ज्ञान स्वयं विशेष बस्तु बिषयक होता है, यहांतक

१ किसी वस्तु का धर्म किसी सम्बन्ध से दूसरी वस्तु में प्रतीत होना ही औपचारिक ज्ञान कहा जाता है।

२ संसार में तीन प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—

१ लोक प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि ज्ञान।

२ मित योगी का ज्ञान जिसमें परस्पर जगत और ईश्वर में भेद प्रतीत होता है अर्थात् ध्यान-जनित सविकल्प समाधि-जन्य ज्ञान।

३ परिपक्व योगी का ज्ञान जिसमें किसी वाह्य वस्तु का सम्पर्क न रहकर केवल स्वस्वरूप आत्म मात्र विषयक निर्विकल्प समाधि-जन्य ज्ञान।

कि उनकी विशेषता से ही, शृंगार, हास्य, करुणा आदि विशेष रसों का ज्ञान होता है अतः एवंभूत सविकल्प ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है। और चर्वणा (आस्वाद) के समय अलौकिक आनन्दमय वह (रस) अपने संवेदन (स्वप्रकाशत्व) मात्र से स्वयं प्रत्यक्ष होता है उस समय अन्य ज्ञान का अभाव होने के कारण रस को सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता? अच्छा, तो प्रश्न होता है कि रस-ज्ञान है क्या? इसका उत्तर यह है कि रस का ज्ञान, निर्विकल्पक और सविकल्पक उभय ज्ञान का अभाव रूप और उभयात्मक (दोनों प्रकार के ज्ञान रूप) है अर्थात् रस विशेष ज्ञान स्वरूप से स्वयं प्रकाश होता है। इस अंश में वह निर्विकल्पक ज्ञान है। और विभावादिकों की जो विभावत्व आदि रूप से प्रतीति होती है, उस अंश में वह सविकल्पक भी है। निष्कर्ष यह है कि रस निर्विकल्पक[1] और सविकल्पक[2]

---

१ जिसमें घट, पट आदि किसी वस्तु की प्रतीति न हो उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं और योग शास्त्र में इसी ज्ञान को 'असंप्रज्ञात समाधि' कहा गया है। इस समाधि में किसी विषय विशेष का आभास नहीं होता, केवल ब्रह्मानन्द में लीन हो जाना ही इसका स्वरूप है।

२ जिसमें घट, पट आदि वस्तुओं की प्रतीति होती है उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। इसी ज्ञान को योग शास्त्र में 'संप्रज्ञात समाधि' कहा गया है, इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक्-पृथक् अनुसंधान रहता है।

दोनों ज्ञानों से विलक्षण और दोनों ज्ञानों के समान भी है। अतः पूर्वोक्त कार्य और ज्ञाप्य की विलक्षणता के समान इसके द्वारा भी रस की अलौकिकता सिद्ध होती है

पण्डितराज का मत

पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट के मत को उद्धृत करके फिर अपना यह मत बताया है कि वास्तव में तो तैत्तरीय उपनिषद् की—

'रसो वै सः। रस ᳫ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'।

इन श्रुतियों के अनुसार रति आदि से युक्त और आवरण-रहित चैतन्य का ही नाम रस है। और चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना अर्थात् उसका अज्ञान हट जाना ही रस की चर्वणा अर्थात् आस्वाद है। अथवा अन्तःकरण की वृत्ति का आनन्दमय हो जाना ही चर्वणा है। यह परब्रह्म के आस्वाद रूप समाधि से विलक्षण है, क्योंकि रस-जन्य आत्मानन्द आलम्बनविभावादि सांसारिक विषयों से युक्त है और समाधि-जन्य आत्मानन्द में विषय का अभाव है। रस का आस्वाद काव्य के व्यापार-व्यञ्जना द्वारा उत्पन्न होता है। यदि यह कहा जाय कि इस रसास्वादन में सुख की प्रतीति होने में क्या प्रमाण है? तो हम कहते हैं कि समाधि-जन्य सुख के भान होने में भी क्या प्रमाण है? दोनों ही प्रश्न समान हैं। यदि यह कहो कि समाधि-जन्य आनन्द के विषय में—

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'[†]।

यह श्री भगवद्गीता का प्रमाण है। तो पण्डितराज कहते हैं कि रस के आनन्द के लिये भी उपर्युक्त श्रुति प्रमाण है, जैसा कि उनमें कहा गया है—'यह आत्मा रस रूप है। रस को प्राप्त होकर ही यह आनन्द रूप बनता है'। और श्रुति-प्रमाण के अतिरिक्त सहृदयजनों का अनुभव रूप प्रत्यक्ष-प्रमाण भी है—रस के आस्वादन में जो अलौकिक आनन्द है, उसके विषय में सहृदय जनों से पूछियेगा, वे क्या कहते हैं।

विश्वनाथ का मत

विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में रस पर बहुत विवेचन किया है, पर वह अधिकांश में काव्यप्रकाश पर अवलम्बित है, अतः उसे पृथक् दिखलाना केवल विस्तार करना है। 'हाँ' इन्होंने रस की परिभाषा में 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग काव्यप्रकाशोक्त—'व्यक्तः सतैः विभावाद्यैः' के अनुसार करके विभावादि द्वारा रस व्यक्त होना उस प्रकार बतलाया है—जैसे दूध का दही के रूप में परिणत हो जाना (बदल जाना)। वे 'व्यक्त' का अर्थ प्रकाशित होना इसलिये नहीं स्वीकार करते कि 'प्रकाशित तो वही वस्तु हो सकती है जो पहिले से वर्तमान हो—जैसे पहिले से रक्खा हुआ

[†] समाधि-जन्य आनन्द बुद्धि-ग्राह्य है वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है।

घट, दीपक से प्रकाशित हो जाता है, किन्तु 'रस' जब कि विभावनादि की भावना के पूर्व होता ही नहीं तो न हुई वस्तु किस प्रकार प्रकाशित होगी ? इसमें विश्वनाथ ने अभिनवगुप्तपादाचार्य के—

'रसाः प्रतीयन्त इतिओदनं पचतीति वद् व्यवहारः'।

—ध्वन्यालोक पृ० ६९

इस वाक्य का प्रमाण दिया है कि 'रस प्रतीत होते हैं' यह कहना उसी प्रकार का है, जैसे 'भात पकाते हैं' कहा जाता है, अर्थात् चावलों के पक जाने के बाद ही भात संज्ञा होती है—पकने के पूर्व नहीं, पर व्यवहार में लोग कहते हैं, भात पकाते हैं, इसी प्रकार रस भी प्रतीति से ही निष्पन्न होते हैं, रस प्रतीयमान (प्रतीति होने वाले) ही होते हैं—प्रतीति के पूर्व रस नहीं होते किन्तु ऐसा कहना भी पूर्वोक्त 'भात पकाते हैं' के समान है।

पूर्वोक्त व्याख्याओं का निष्कर्ष

यह तो सभी व्याख्याकारों को स्वीकार है कि रस का आस्वाद—रति आदि चित्त की वृत्तियों में (स्थायी भावों में) रहता है और वह विभावादिकों द्वारा निष्पन्न होता है। किन्तु यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि—वे रति आदि भाव पाठकों अथवा दर्शकों के हृदय में किस प्रकार आस्वाद की विषयी अवस्था को बनाते हैं, दूसरे शब्दों में वे रति आदि चित्त वृत्तियां—जिन में रति की स्थिति है—किस की हैं—काव्य में वर्णित (अथवा नाट्य के अनुकार्य) दुष्यन्त

शकुन्तला आदि की हैं अथवा सामाजिकों की ? (काव्य के श्रोता अथवा नाटक के दर्शकों की ?) और यदि वे दुष्यन्तादि की हैं तो नट को उनका अभिनय करते हुए देख कर सामाजिकों को उनके द्वारा किस प्रकार आनन्द प्राप्त हो सकता है ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में पूर्वोक्त व्याख्याकारों के विभिन्न मत हैं जिनका निष्कर्ष यह है—

(१) भट्ट लोल्लट का मत है कि वास्तविक रति आदि चित्त वृत्तियां काव्य में वर्णित दुष्यन्तादि में ही रहती हैं, पर सामाजिक उन चित्त वृत्तियों का नट पर आरोप कर लेते हैं—और उन आरोपित चित्त वृत्तियों के ज्ञान से सामाजिकों को आनन्द प्राप्त होता है।

(२) श्री शंकुक का मत है कि दुष्यन्तादि की उन चित्त वृत्तियों का नट में अनुमान किया जाता है और उसीमें आनन्द प्राप्त होता है।

(३) भट्ट नायक का मत है कि किसी भी काव्य के श्रवण अथवा अभिनय के देखने पर तीन कार्य होते हैं। प्रथम उसका अर्थ समझा जाता है फिर उसकी भावना की जाती है अर्थात् अनुसन्धान (चिन्तन) किया जाता है, जिसके प्रभाव से काव्य में सुनी हुई और अभिनय में देखी हुई वस्तुओं में हम अपना और परायापन नहीं समझ सकते उसके बाद आत्म-चैतन्य के प्रकाशित साधारण रूप में उपस्थित रति आदि चित्त वृत्तियों के अनुभव का आनन्द प्राप्त करते हैं, यह जो भोग व्यापार है वही रस है।

(४) अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मटाचार्य का मत है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा एक अलौकिक

क्रिया—जिसको विभावन कहते हैं, उत्पन्न होती है जो कि व्यञ्जना का व्यापार है—उसके द्वारा अथवा विभावादिकों के आस्वादन के प्रभाव द्वारा ही हमारे आत्म-चैतन्य का आवरण—अज्ञान रूप परदा—हट जाता है। उसके बाद हमारे हृदय में वासना रूप से रहने वाले रति आदि का उस आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाश होता है उसी आनन्द रूप आत्म-चैतन्य युक्त उन रति भावों का आनन्दानुभव रस है। तात्पर्य यह है कि आत्मानन्द युक्त सामाजिकों के हृदय स्थित वासना रूप से रहने वाले रति आदि का अनुभव ही रस है।

(५) पण्डितराज जगन्नाथ और अभिनवगुप्तपादाचार्य एवं मम्मट के मत में केवल यही भेद है कि अभिनवगुप्तपाद और मम्मट अज्ञान रूप आवरण रहित चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायी भाव को रस बताते हैं। और पण्डितराज रति आदि संयुक्त आवरण-रहित चैतन्य को रस बताते हैं। अर्थात् अभिनवगुप्तपाद और मम्मट के मत में रस की अभिव्यक्ति में 'चैतन्य' विशेषण (गौण) और रति आदि विशेष्य (मुख्य) है और पण्डितराज के मत में रति आदि विशेषण (गौण) और 'चैतन्य' विशेष्य (मुख्य) है। पण्डितराज का कहना है कि रस का अनुभव आत्मानन्द रूप ही है, भेद केवल यही है कि रस-जन्य आनन्द रति आदि भावों से परिच्छिन्न होकर प्रतीत होता है और समाधि-जन्य आनन्द अपरिच्छिन्न। बस भरत सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं का यही निष्कर्ष है।

विभाव, अनुभाव, आदि प्रत्येक स्वतन्त्र रस-व्यञ्जक नहीं

रस के विषय में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अन्य विद्वानों के भी

कुछ मत दिखलाये हैं–जिनकी स्पष्टता पण्डितराज जगन्नाथ ने (रसगङ्गा० पृ० २८) में इस प्रकार की है कि कुछ विद्वानों का मत है कि नट (विभाव) को अभिनय करता हुआ देख कर; उसका बार-बार चिन्तन करने पर आनन्द होता है अतः रति आदि स्थायी भावों के जो आलम्बन-विभाव हैं, वही रस है—'**भाव्यमानो विभाव एव रसः इति**'। दूसरे लोग कहते हैं कि नट द्वारा शकुन्तला आदि के रूप में की हुई शारीरिक चेष्टाओं का बार-बार चिन्तन करने में अर्थात् अनुभावों द्वारा आनन्द प्राप्त होता है अतः अनुभाव ही रस है—'**अनुभावस्तथा तथा इतीतरे**'। कोई कहता है कि रस के आलम्बन विभाव की चित्त-वृत्तियां अर्थात् व्यभिचारी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं अतः वही रस है—

व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति इति केचित्'।

बहुत से कहते हैं कि किसी नाटक में नट के रूप-लावण्य और वेष-भूषा एवं सुन्दर दृश्य (सीनरी) आदि विभावों द्वारा, किसी में नटों के मनोमोहक अभिनयों (कटाक्ष भ्रू क्षेपादि चेष्टाओं) अर्थात् अनुभावों द्वारा और किसी में उनके मनोभावों के विश्लेषण अर्थात् व्यभिचारी भावों द्वारा आनन्द प्राप्त होता है अतः विभाव अनुभाव और व्यभिचारी इन तीनों में जिसमें चमत्कार हो वही रस है—

त्रिपु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा त्रयोरपि न इति बहवः'।

किन्तु यह सभी मत सर्वथा अग्राह्य हैं, क्योंकि विभाव, अनुभाव और

व्यभिचारी इन तीनों में से केवल एक अर्थात् केवल विभाव, या केवल अनुभाव अथवा केवल व्यभिचारी द्वारा रस की अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती। बात यह है कि इन तीनों की किसी भी एक रस में एकान्तिक स्थिति नहीं अर्थात् ये एक खास रस के नियत नहीं हैं—जो एक रस में होते हैं, वही दूसरे रस में भी हो सकते हैं। जैसे सिंह आदिक हिंसक जीव भयानक रस के आलम्बन विभाव होते हैं, वही (सिंह आदि) वीर और रौद्र रस में भी आलम्बन हो सकते हैं, क्योंकि कायर पुरुष के लिये वह जिस प्रकार भय के आलम्बन हैं, उसी प्रकार दृढ़-चित्त वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के आलम्बन भी हो सकते हैं। एवं अश्रुपातादि जैसे शृङ्गार रस में अनुभाव हो सकते हैं, उसी तरह वही करुण और भयानक में भी अनुभाव हो सकते हैं, क्योंकि अश्रु प्रेम से भी और शोक तथा भय से भी उत्पन्न हो सकते हैं। चिन्ता आदि चित्त-वृत्तियां व्यभिचारी भाव जिस प्रकार शृङ्गार रस के स्थायी 'रति' की पुष्टि करते हैं, उसी प्रकार वह करुण, भयानक आदि रसों में शोक, भय आदि की पुष्टि भी करते हैं, ऐसी अवस्था में केवल एक के द्वारा रस किस प्रकार ध्वनित हो सकता है। अतएव सिद्ध होता है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी स्वतन्त्र रूप में रस रूप अथवा रस के उत्पादक नहीं हो सकते।

अच्छा, अब यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब विभाव अनुभाव और सञ्चारी इन तीन के समूह द्वारा ही रस की निष्पत्ति है—किसी एक द्वारा नहीं तो, कहीं केवल एक

विभाव ही होता है कहीं केवल अनुभाव ही होते हैं तथा कहीं केवल व्यभिचारी ही होते हैं और कहीं इन तीनों में दो ही होते हैं, किन्तु ऐसे काव्यों में भी रस की स्थिति स्वीकार की जाती है, वह क्यों ? इसका उत्तर यह है कि जहां विभावादि तीनों में एक ही स्पष्ट प्रतीत होता है, वहां वह अपने व्यञ्जनीय रस का ऐसा असाधारण सम्बन्धी होता है, जो अन्य किसी दूसरे रस की उपस्थिति नहीं होने देता अतः उसके द्वारा शेष दोनों का आक्षेप हो जाता है अर्थात् वह एक अपने व्यञ्जनीय रस के अनुकूल शेष दोनों भावों का बोध करा देता है, तब इन तीनों के समूह से ही वहां रस व्यक्त होता है—न कि एक के द्वारा जैसे—

'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशांश्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे' ॥१

---

१ मानिनी नायिका के प्रति सखी की उक्ति है—हे मुग्धे, देख तो यह कैसा रमणीय कामोद्दीपक समय है गगनमण्डल भ्रमर पुञ्ज जैसे श्याम सजल मेघों से आच्छादित है। दशों दिशाएं मधुकरों की गुञ्जार और कोकिलों की कूज से मुखरित हो रही हैं। पृथ्वी नवीन अंकुरों से व्याप्त है अतएव अब मान छोड़ कर बार-बार प्रणाम करते हुए प्रिय पर तू प्रसन्न हो। निष्कर्ष यह कि जहां दृष्टि-पात किया जाय वहीं उद्दीपन सामग्रियां हैं ऐसे समय तेरा मान स्थिर रहना नितान्त असम्भव है अतएव यह बड़ा अच्छा अवसर है—तेरा प्रणयी तुझे पाद-पतन से प्रसन्न कर रहा

यहां केवल मानिनी नायिका आलम्बन और वर्षा-कालिक उद्दीपन विभावों का वर्णन है—अनुभाव और संचारी नहीं किन्तु मानिनी नायिका विप्रलम्भ शृङ्गार का असाधारण आलम्बन विभाव है—वह किसी दूसरे रस की प्रतीति नहीं होने देता अतएव इस विभाव के कारण अंगों का वैवर्ण्य आदि अनुभाव और चिन्ता आदि व्यभिचारियों का स्वयं आक्षेप हो जाता है फिर इन तीनों ही के समूह से रति स्थायी भाव यहां वियोग-शृङ्गार रस के रूप में व्यक्त होता है।

विभावादि तीनों का समूह भी रस-व्यञ्जक नहीं

यद्यपि कुछ लोगों का यह मत है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों का समूह रस है—

'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः इति कतिपये',।

—रसगं० पृ० २८

किन्तु केवल इन तीनों के समूह को भी रस नहीं कहा जा सकता क्योंकि रस अवस्था को रति आदि स्थायी भाव ही प्राप्त हो सकते हैं—विभावादि तीनों का समूह तो केवल स्थायी भाव को रस रूप में व्यक्त करने वाला है।

है यदि अब तू इस अवसर पर प्रसन्न न होगी तो यह अवसर चला जाने पर सम्भव है तू स्वयं उत्कण्ठित होकर प्रियतम से मिलने का यत्न करे।

स्थायी और व्यभिचारी भावों का भेद

यद्यपि 'रति' आदि ९ स्थायी भाव भी चित्त-वृत्तियां ही हैं, रति आदि भी अपने-अपने रस में ही स्थायी संज्ञा को प्राप्त होते हैं, जैसे शृङ्गार में रति, हास्य में हास, करुण में शोक, रौद्र में क्रोध, वीर में उत्साह, भयानक में भय, बीभत्स में जुगुप्सा, अद्भुत में विस्मय और शान्त में निर्वेद ये आदि से अन्त तक वर्तमान रहते हैं। किन्तु जब ये अपने रस से अन्यत्र किसी दूसरे रस में होते हैं, तो वहां ये स्थायी नहीं रह कर उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं अतएव वहां यह भी व्यभिचारी हो जाते हैं। जैसे शृङ्गार रस में 'रति' अन्त तक बना रहता है अतः वहां यह स्थायी माना गया है किन्तु हास (जो कि हास्य रस में स्थायी होता है) शृङ्गार और वीर रस में उत्पन्न और विलीन होता रहता है अतएव वहां वह व्यभिचारी हो जाता है। इसी प्रकार क्रोध, जुगुप्सा और उत्साह आदि क्रमशः रौद्र, बीभत्स और वीर में स्थायी होने पर भी वीर, शान्त और रौद्र में क्रमशः व्यभिचारी हो जाते हैं।

अब यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब 'रति' आदि भाव भी चित्त-वृत्तियां हैं और यह भी अन्य रसों में व्यभिचारी की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तो फिर रति आदि स्थायी भावों को ही रस अवस्था का प्राप्त होना क्यों माना गया निर्वेद* आदि अन्य भावों को

---

* वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद स्थायी होता है और इष्ट-वियोगादि जन्य निर्वेद व्यभिचारी।

(जिनको व्यभिचारी भाव माने गये हैं) क्यों नहीं ? इसका समाधान यह है कि चित्त-वृत्तियां तो असंख्य हैं किन्तु साहित्य-शास्त्र में उल्लेखनीय ४२ ही मानी गई हैं (यदि सात्विक भावों को सम्मिलित कर लिये जांय तो ४९ या ५०) जिनमें ३३ चित्त-वृत्तियां ऐसी हैं जो किसी एक रस में आदि से अन्त तक नियत रूप से स्थिर नहीं रह सकती—सभी रसों में यथा अवसर—प्रसंगानुसार कभी कोई कभी कोई समुद्र की तरंगों के समान सञ्चार करती और लुप्त होती रहती हैं अतएव उनको व्यभिचारी भाव माने गये हैं। और रति आदि ९ चित्त-वृत्तियां जिनको स्थायी भाव माने गये हैं, वे अपने एक-एक रस में नियम से एक-एक, आदि से अन्त तक स्थिर रूप से प्रतीत होती रहती हैं। यदि यह कहा जाय कि चित्त-वृत्तियां तो सभी तत्काल नष्ट हो जाने वाले पदार्थ हैं इनका स्थिर रहना बड़ा दुर्लभ है। यदि इनको वासना रूप से स्थिर माना जाय तो जिन चित्त-वृत्तियों की व्यभिचारी भाव संज्ञा है, वे भी वासना रूप से तो अन्तःकरण में विद्यमान रहती ही हैं फिर स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव में भेद ही क्या ? इसका उत्तर यह है कि वासना रूप स्थायी भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना और दूसरे भावों से नष्ट न होना ही यहां स्थिर या स्थायी पद का अर्थ है। क्योंकि वे अपने किसी विरोधी भाव से अथवा अपने अनुकूल किसी भाव से तिरोधान (छिप) नहीं हो सकते। कहा है—

'विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमः।
आनन्दङ्कुरकन्दोसौ भावः स्थायीपदास्पदम्' ॥

—काव्यप्रदीप

किन्तु व्यभिचारी भाव अपने अनुकूल भाव से इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्य प्रकाश और विरुद्ध भाव से इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे जल से अग्नि। पर स्थायी भाव इस प्रकार किसी भाव से नष्ट नहीं होते। स्थायी भाव लवणाकर (क्षार समुद्र) के समान है जैसे लवणाकर में खट्टी, मीठी, चर्परी जो वस्तु गिरती हैं वह सभी लवण बन जाती हैं, इसी प्रकार स्थायी भाव में सभी व्यभिचारी-भाव अनुकूल हों या प्रतिकूल स्थायी भाव के तद्रूप बन जाते हैं। इसी लिये स्थायी भावों को राजा के तुल्य और अन्य भावों को साधारण-जनता के समान माने गये हैं—

'यथा नाराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह'॥

—नाट्यशास्त्र ७।१२

अतएव 'रति' आदि स्थायी भाव ही पूर्वोक्त विभावादि के संयोग से रस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं, न कि व्यभिचारी भाव।

'रस' वाच्य नहीं व्यङ्ग्य है

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि शृङ्गारादि रस वाच्य नहीं, अर्थात् शृङ्गार आदि शब्दों के कथन मात्र से अथवा रस-वाचक शब्दों का अर्थ समझने मात्र से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यदि रस के नाम मात्र से ही आनन्द प्राप्त होना संभव होता तो कवि या नाट्य-

कार द्वारा अपनी कृति पर यह विज्ञप्ति करने पर कि इसमें अमुक रस है, आनन्द होना चाहिये था पर ऐसा नहीं होता, जब तक कि उस कृति में रसोद्बोधक उपयुक्त सामग्रियां (विभावादि) न हों। अत-एव सिद्ध हुआ कि 'रस' विभावादि द्वारा प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। व्यंग्यार्थ और ध्वनि क्या वस्तु हैं इसकी स्पष्टता ध्वनि सम्प्रदाय के प्रकरण में की जायगी।

रसों की संख्या

रसों की संख्या में भी साहित्याचार्यों का कुछ मतभेद है। रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री भरतमुनि ने यद्यपि प्रारम्भ में—

> 'शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
> बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'॥
>
> नाट्यशा० ६।१६।

इस कारिका में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत यह आठ रस नाट्योपयोगी बतलाये हैं। पर इनके निरूपण के पश्चात्—

"अत शान्तो नाम······। मोक्षाध्यात्मसमुत्थ ····शान्त रसो नाम सम्भवति। ······एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्ष-णान्विताः।"

(नाट्यशास्त्र पृ० ३२४-३३ गायकवाड संस्क०)

इन सूत्र और कारिकाओं में शान्त रस का भी निरूपण किया है। केवल यही नहीं, उन्होंने शान्त रस से ही रति आदि अन्य सभी भावों की उत्पत्ति और शान्त में ही सब का लय स्वीकार किया है—

'स्वंस्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापायेच शान्त एवोपलीयते।"

(नाट्यशास्त्र ६।१०८)

और इसकी व्याख्या में श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है—

'तत्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थयितमं'—

(अभिनवभारती पृ० ३३७)

यों तो भरत मुनि ने सर्व प्रथम चार रस ही माने हैं, शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स और इन्हीं से शेष चार रसों का प्रादुर्भाव बतलाया है—शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक। उसके बाद रस निरूपण करते हुए अन्त में शान्त की ही प्रधानता स्वीकार की है। अग्निपुराण में शृङ्गार रस से ही अन्य रसों की उत्पत्ति मानी गई है। वहां इस विषय में कहा गया है कि वेदान्तों में जिसे अक्षर, अज, चैतन्य, स्वप्रकाशादि ईश्वर परब्रह्म कहा गया है, वह स्वतः सिद्ध आनन्दमय है अथवा उसमें आनन्द विद्यमान है, वह आनन्द किसी समय प्रकट हो जाया करता है, उस आनन्द की जो अभिव्यक्ति है, वह चैतन्य चमत्कार अथवा रस है।

उस आनन्द का प्रथम विकार अहङ्कार है, अहङ्कार से अभिमान उत्पन्न होता है जो त्रैलोक्य में व्याप्त है। उसी अभिमान से रति (प्रेम या अनुराग) उत्पन्न होती है, वही रति व्यभिचारी आदि से पुष्ट होकर शृङ्गार रस कही जाती है। और रति के हास्यादिक भेद हैं अर्थात् रति, सत्वादि गुणों के विस्तार से राग तीक्ष्णता, गर्व और सङ्कोच इन चार रूपों में परिणत होती है—राग से शृङ्गार, तीक्ष्णता से रौद्र, गर्व से वीर और सङ्कोच से बीभत्स रस की उत्पत्ति है। फिर शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस उत्पन्न होता है और रति के अभाव से शान्त रस की उत्पत्ति है।

नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् उपलब्ध ग्रन्थों में भामह और दण्डी ने इस विषय पर विशेष विवेचन नहीं किया है—रसवद् अलङ्कार प्रकरण में रसों का नामोल्लेख मात्र किया है। इसके बाद रस विषयक विवेचन हम को रुद्रट के काव्यालङ्कार में मिलता है। रुद्रट ने प्राचीनों के नव रसों के अतिरिक्त एक 'प्रेयान्' नामक रस बतलाया है जिसका स्थायी वह स्नेह बतलाता है। कुछ विद्वानों ने, वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, श्रद्धा आदि स्वतन्त्र रस माने हैं किन्तु साहित्य के प्रसिद्ध आचार्यों ने इन को पृथक रस स्वीकार नहीं किये—किन्तु प्राचीनों के निरूपित नौ रसों के अन्तर्गत ही इन सब को बतलाये हैं और प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने नौ रस ही माने हैं। कुछ आचार्यों ने शृङ्गार रस को ही प्रधान माना है। श्री भोजराज ने अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए अपने 'शृङ्गारप्रकाश' में तो यहां

तक कहा है कि शृङ्गार ही एक मात्र रस है, वीर अद्भुत आदि में रस शब्द का प्रयोग केवल गतानुगतिक—अन्ध परम्परा से किया जाता है—

'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः' ॥
'वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटपक्षवदाविभाति ।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमोनः ॥

—शृङ्गारप्रकाश प्रथम प्रकाश ६,७

इसी प्रकार महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित के—

'एको रसः करुणएव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान,
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो तथा सलिलमेवहि तत्समस्तम् ।'

३।४७

इस पद्य में करुण रस को ही अन्य सारे रसों का मूल तत्व माना है। यद्यपि उत्तररामचरित के टीकाकार श्री वीरराघव ने इसकी स्पष्टता में कहा है कि करुण को प्रधान इसलिये माना गया है कि वह रागी

(प्रेमी) और विरागी (विरक्त) सभी के लिये साधारण है— शृङ्गार रस में यह महत्व नहीं वह केवल रागी जनों को ही आनन्द-प्रद हो सकता है। किन्तु महाराज भोज और भवभूति आदि का यह विवेचन अपने अभिमत रस का महत्व प्रदर्शित करना मात्र है। यद्यपि रस सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य श्री भरत के नाट्यशास्त्र और अग्नि-पुराण में शान्त और शृङ्गार से अन्य रसों की उत्पत्ति मानी गई है। किन्तु आश्चर्य है कि रस सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि ध्वनिकार और आचार्य मम्मट आदि महान् साहित्याचार्यों द्वारा इस विषय में विशेष विवेचन नहीं किया गया है।



भक्ति रस

साहित्य के आद्याचार्य भरतमुनि ने शृङ्गार आदि नो रस ही स्वीकार किये हैं और नो रसों में शान्त-रस को प्रधानता दी है। अन्य सब रसों का शान्त रस से ही प्रादुर्भाव और शान्त रस में ही लय होना बताया है (नाट्यशास्त्र ६।१०८)। यह तो पहिले दिखाया ही जा चुका है। भरतमुनि ने 'भक्ति' को शान्त रस के अन्तर्गत ही माना है जैसा कि नाट्यशास्त्र ६।१०८ की अभिनवभारती व्याख्या के—

'अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे··· '।

इस वाक्य में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्पष्ट किया है। भरतमुनि ने

निराकारोपासना और साकारोपासना दोनों का आलम्बन एक ही साक्षात् सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म होने के कारण प्रतीत होता है कि ज्ञान और भक्ति दोनों का समावेश शान्त रस में कर दिया है।

भरतमुनि के बाद साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में भामह ने 'प्रेय' नामक एक अलङ्कार का लक्षण न देकर केवल—

'प्रेयोगृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।'

यह लिख कर—

'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।'
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।'

—काव्यालङ्कार ३।५

यह उदाहरण दिया है। और भामह के बाद दण्डी ने 'प्रेय' अलङ्कार का—'प्रेयो प्रियतराख्यानं* ।' यह लक्षण लिखा है। और भामह का यही—'अद्य या मम गोविन्द···' उदाहरण दिखा कर फिर इसकी—

'इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः।'

—काव्यादर्श २।२७७

यह स्पष्टता की है कि भगवान् हरि भक्तिमात्र से ही आराध्य होने के कारण विदुर का यह वाक्य भगवान् के प्रति कहना उचित ही है।

* अत्यन्त प्रीति सूचक वाक्य कथन करना।

अतः भगवान् इस भक्तिपूर्ण वाक्य से अत्यन्त प्रसन्न हुए। भगवान् भक्ति द्वारा जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे अन्य—यज्ञादि कर्मों द्वारा नहीं होते।

दण्डी के बाद आचार्य उद्भट ने प्रेय अलङ्कार को—

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्।'

—अलङ्कारसारसंग्रह ४।२

इस लक्षण में रति आदि भावों का अनुभावों द्वारा सूचन किये जाने को 'प्रेय' अलङ्कार माना है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि भरतमुनि के बाद मम्मट के पूर्ववर्ती भामह आदि ने 'भक्ति' को 'प्रेय' अलङ्कार का विषय माना है। किन्तु उसके बाद आचार्य मम्मट ने भरत के मतानुसार भक्ति को शान्तरस के अन्तर्गत तो इसलिये नहीं माना कि 'शान्त' रस का स्थायी जो 'निर्वेद' है वह भक्ति का विरोधी है। और भामहादि के मतानुसार भक्ति को अलङ्कार का विषय इसलिये नहीं माना कि 'रति' (जो भक्ति का ही पर्यायवाची शब्द है) रसोद्बोधक प्रधान पदार्थ है। पर साथ ही मम्मट ने भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट रसों की संख्या की मर्यादा को उल्लंघन करना भी उचित नहीं समझ कर अगत्या भक्ति का—

'रतिर्देवादिविषया [1] व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः।'

काव्यप्रकाश ४।३५

---

१ यहां 'देवादि' में 'आदि' के प्रयोग द्वारा गुरु मुनि विषयक

इस कारिका द्वारा अन्य भावों के साथ 'रतिभाव' में समावेश कर दिया। और गतानुगतिक न्याय से मम्मट के परवर्ती आचार्य मम्मट का ही अनुसरण करने लग गये। 'भक्ति' को स्वतन्त्र रस क्यों नहीं माना जाय ? इस विषय में पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्वपक्ष उठा कर फिर केवल यही कह कर कि 'भरतमुनि द्वारा नियत की हुई रसों की संख्या माना जाना ही उचित है' स्वयं समाधान भी कर लिया।

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि 'भक्ति' को स्वतंत्र रस न मानने का कारण एक मात्र साहित्यक परिपाटी अथवा रूढ़ि है। यदि वस्तु-स्थिति पर विचार किया जाय तो शृङ्गारादि नवों रसों के अतिरिक्त—

भक्ति सर्वोपरि प्रधान रस है

क्योंकि—

'रसो वै सः।' 'रसꣳ लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दंप्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

इत्यादि श्रुति प्रमाणों और भगवान् वेदव्यास के—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥

रति (श्रद्धा) राजा विषयक रति (चाटुकारी) और पुत्र विषयक रति (वात्सल्य) आदि का ग्रहण किया गया है —'आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया।'—काव्यप्रकाश ४।३५ वृत्ति।

आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥

—अग्निपुराण ३४०।१,२

इत्यादि वाक्यों के अनुसार ब्रह्मानन्द को ही रस के रसत्व का मूलतत्व सभी साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है । अर्थात् साहित्याचार्यों का मत है कि अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त 'रति' आदि स्थायीभाव ही रस है । इसी आधार पर साहित्याचार्यों ने रस जन्य आनन्द को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' बताया है । वस्तुतः देखा जाय तो साहित्याचार्यों द्वारा शृङ्गार आदि रसों को तो ब्रह्मानन्द सहोदर मात्र ही माना गया है किन्तु भक्ति रस और ब्रह्मानन्द की तो केवल संज्ञा (नाम) मात्र दो हैं—वस्तुतः एक ही हैं । देखिये, भगवद्पाद श्री शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक अद्वैतसिद्धि के प्रणेता परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती क्या कहते हैं—

"समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतंत्रपुरुषार्थत्वात्··· तस्मात्······भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वात्वादिति निर्विवादम् ।"

—भक्तिरसायन प्रथमोल्लास पृ० ६

इसमें आपने समाधि-जन्य ब्रह्मानन्द को और भक्ति रसास्वाद को समान माना है । यह तो हुआ समाधि-सुख के अनुभवी अव्यक्तोपासकों का मत । अब देखिये, इस विषय में भक्तिरसास्वाद के अनुभवी अनन्य भक्त क्या कहते हैं—

'ब्रह्मानन्दो भवदेष चेत् परार्द्ध गुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।'

श्री रूपस्वामी प्रणीत हरिभक्तिरसामृत सिन्धु १।१९,२०

इसमें भक्तिरसास्वाद की अपेक्षा परार्द्धकाल पर्यन्त के समाधि-जन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु के तुल्य भी नहीं माना गया है। इसी प्रकार श्री ध्रुव ने—

'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किन्त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्*।'

—श्रीमद्भागवत ४।९।१०

इसी प्रकार अनेक प्रसंगों में श्रीमद्भागवत आदि में भक्ति-रसास्वाद को ब्रह्मानन्द से बढ़ कर बताया गया है। यही नहीं, सर्व प्रधान साहित्याचार्य श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने स्वयं कहा है—

'या व्यापारवती रसान्रसयितुं काचित्कवीनां नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।

* हे नाथ, जो परमानन्द शरीरधारियों को आपके पदारविन्द के ध्यान द्वारा और आपके भक्तों से कथाश्रवण द्वारा उपलब्ध होता है, वह—परमानन्द—ब्रह्मानन्द से भी प्राप्त नहीं हो सकता। फिर कालरूपी खड्ग से कट कर गिरते हुए विमान से गिरने वाले स्वर्गवासियों को वह कहां प्राप्त हो सकता है।

ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ।'

—ध्वन्यालोक पृ० २२७

इसके द्वारा निर्विवाद सिद्ध होता है कि भक्ति रसानन्द सर्वोपरि है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों के साथ रसोद्बोधक पदार्थों का तुलनात्मक भी विचार किया जाय तो शृङ्गारादि अन्य रसों के स्थायी और विभावादि सभी लौकिक हैं और भक्तिरस के स्थायी और विभावादि सभी अलौकिक है। भक्ति रस के—

स्थायी—भगवद्विषयक अनुराग-रति अलौकिक है।

आलम्बन विभाव—साक्षात् पूर्णब्रह्म भगवान् श्री राम, कृष्ण आदि के अखिलविश्वसौन्दर्यनिधि दिव्य विग्रह हैं, वे भी अलौकिक हैं।

अनुभाव—अनन्य प्रेम-जन्य अश्रु, रोमाञ्च आदि भी अलौकिक[1] हैं।

व्यभिचारी—हर्ष, औत्सुक्य, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य, धृति, स्मृति और मति आदि सभी अलौकिक ही हैं[2]। अतएव कहा है—

१ श्रीमद्भागवत में (११।३।३२) वसुदेवजी के प्रति योगेश्वर प्रबुद्ध के वाक्य हैं—

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित् हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः,
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः।

'पराभक्तिः प्रोक्ता रस इति रसास्वादनचणैः।'

—भगवद्भक्ति चन्द्रिकामृतरसोल्लास

ऐसी परिस्थिति में खेद है कि जिन साक्ष्याभास नवों रसों में चिदानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से साहित्याचार्य रसानुभूति बतलाते हैं उनको साहित्य में रस की प्रतिष्ठा दी गई है एवं कान्ता-विषयक रति को सर्वप्रधान शृङ्गार रस माना गया है। किन्तु—

'एतस्यैवानन्दस्य आनन्दा मात्रानुपजीवन्ति।'

इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित जो ब्रह्मानन्द अखिल आनन्दों का एक मात्र आश्रय है, उस साक्षात् चिदानन्दात्मक ब्रह्मनन्द से भी बढ़ कर भगवद्भक्ति-जन्य परमानन्द है उसे रस न मानकर राज विषयक रति (मिथ्याप्रशंसात्मक चाटुकारी) एवं पुत्र विषयक रति (वात्सल्य) के समान ही 'भाव' मात्र माना गया है इससे अधिक क्या आश्चर्य हो सकता है ! यही क्यों क्रोध, शोक, भय और बीभत्स आदि स्थायी भावों को—जो प्रत्यक्ष में सुखके विरोधी हैं—रौद्र, करुण, भयानक और बीभत्स रस की प्रतिष्ठा दी गई है जबकि इनसे अमित गुण अधिक भगवद्विषयक-रति का आनन्द है। यदि यह कहा जाय कि इसमें प्रमाण क्या, तो इसका उत्तर तो यही है कि अन्य रसों के आस्वाद के प्रमाण के लिये आपलोग सहृदयजनों से पूछने के लिये आज्ञा करते हैं तो हमारा निवेदन है कि भक्तिरसास्वाद के विषय में आपलोग भी तदीय भक्तजनों से क्यों न पूछियेगा। ऐसी अवस्था में इस विषय में हमारे प्राचीन साहित्याचार्यों के दुराग्रह के सिवा अधिक क्या कहा जा सकता है।



शान्तरस और नाट्य

कुछ आचार्यों का मत है कि नाट्य में शान्तरस का होना असंभव है क्योंकि शान्तरस शान्ति-साध्य है पर नट में शान्ति का होना सम्भव नहीं है, कहा है—

'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्।
अष्टावेवरसा नाट्ये शान्तस्तत्र न युज्यते" ॥

किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं। पण्डितराज ने इस पर कहा है कि नट में शान्ति असम्भव है यह तो हम स्वीकार करते हैं किन्तु इसके द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि नट में शान्ति न होने के कारण शान्त रस का अभिनय प्रकाशित न किया जा सके क्योंकि नट जब रौद्र या भयानक रस की अभिव्यक्ति के लिये (प्रकाशित करने के लिये) अभिनय करता है, तब क्या उसमें वास्तविक क्रोध या भय रहते हैं ? कदापि नहीं, तो फिर वह (नट) रौद्रादि रसों का अभिनय किस प्रकार कर सकता है ? ऐसी अवस्था में रौद्रादि रसों का अभिनय भी नट के द्वारा असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि नट में क्रोधादि न होने के कारण क्रोध आदि के वास्तविक कार्य— बध-बन्धनादि के उत्पन्न न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास द्वारा कृतिम बध-बन्धनादि कार्य उत्पन्न होने में कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है, तो फिर यही बात शान्तरस

के विषय में भी क्यों नहीं मानी जा सकती है ? दोनों ही स्थलों पर प्रश्न तो समान ही है। फिर यदि यह कहा जाय कि सामाजिकों में भी नाट्य द्वारा शान्तरस का उदय किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि विषयों से वैराग्य होना ही शान्त रस का स्वरूप है, और नाट्य में गीत-वाद्यादि विषय विद्यमान रहते हैं। इसका समाधान भी यह है कि जो लोग नाट्य में शान्त रस का होना मानते हैं, वे गीत वाद्यादि को उसके विरोधी नहीं मानते। यदि ऐसा हो हो तो उनका फल—शान्त रस का उदय ही न हो सके। फिर यदि यावन्मात्र सभी विषयों के चिन्तन को ही शान्त रस के विरुद्ध मान लिये जांय तो शान्त का आलम्बन संसार का अनित्य होना एवं उसके उद्दीपन महाभारतादि का श्रवण, सत्सङ्ग, एकान्तस्थल, आदि भी तो विषय ही हैं अतः वे भी उसके विरोधी ही हुए, परन्तु वस्तुतः ऐसा नही है। अतएव जो विषय शान्त रस के अनुकूल विरक्ति के साधन भगवद् भजन कीर्तन आदि हैं वे शान्त रस के अभिव्यञ्जक हो सकते हैं। इसी लिये सङ्गीतरत्नाकर में कहा गया है—

'अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु यतः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः' ॥

अतएव नाट्य में भी शान्त रस का होना सिद्ध होता है और काव्य तो शान्त रस-प्रधान निर्बिवाद सिद्ध हैं—जब कि महाभारतादि में शान्त रस ही प्रधान है।

करुण और बीभत्स में रसत्व क्यों माना गया ?

अच्छा, अब एक प्रश्न यह भी उपस्थित हो सकता है कि जब आनन्दानुभव को ही रस माना गया है तो करुण, बीभत्स आदि के द्वारा तो प्रत्यक्ष दुःख और घृणा आदि उत्पन्न होते हैं न कि आनन्द, फिर वे (करुण और बीभत्स आदि) रस क्यों माने गये ? इसका उत्तर यह है कि करुण आदि रस यदि दुःख और घृणोत्पादक होते तो करुणादि रस- प्रधान काव्य नाटकों को कोई भी न सुनता और न देखता। पर प्रत्यक्ष देखा जाता है कि करुण रस प्रधान काव्य नाटकों को भी शृङ्गार रस के काव्य नाटकों के समान ही सब लोग सुनते और देखते हैं, क्योंकि उनके द्वारा भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है, जैसा शृङ्गार रसात्मक काव्य नाटकों द्वारा। इसमें सहृदय जनों का अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। बात यह है कि लौकिक में जो शोक के प्रसङ्ग श्रीराम-वनबास आदि दुःख के कारण दृष्टिगत होते हैं, वे जब काव्यादि में निबद्ध हो आते हैं, तब उनका व्यवहार 'कारण' शब्द से नहीं किन्तु 'विभाव' शब्द से होता है अर्थात् काव्य नाट्यादि से सम्बन्ध हो जाने पर उन कारणों में विभावन नाम का अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है अतएव उनके द्वारा सुख ही प्राप्त होता है—चाहे वे लौकिक में दुःख के कारण ही क्यों न हों। शोकादि के कारणों से दुःखादि उत्पन्न होने का नियम लोक-व्यवहार ही में है—काव्यादि में नहीं। यदि यह कहा जाय कि फिर काव्य नाटकों में भी श्रीराम बनबास एवं हरिश्चन्द्रादि के

चरित्रों से अश्रुपातादि—जो दुःख के कार्य हैं, क्यों देखे जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि उस समय चित्त के द्रवीभूत हो जाने (पिघल जाने) के कारण अश्रुपातादि होते हैं और चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दुःखोद्रेक ही नहीं, किन्तु आनन्दोद्रेक भी है—आनन्द जनित अश्रुपात होना भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। कहा भी है—

'आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात् ।
अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाद्भवेदास्रम्" ॥

—नाट्यशा० (गायकवाड संस्क०) ७।१५१

रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत यहां रसों के लक्षण और उदाहरण दिखाना अप्रासङ्गिक है। यह विषय रीति ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है❀।



❀ हिन्दी में इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये लेखक का काव्य कल्पद्रुम तृतीय संस्करण का प्रथम भाग—रसमञ्जरी

अलङ्कार सम्प्रदाय (School)

अलङ्कार सम्प्रदाय संभवतः रस सम्प्रदाय के समकालीन ही है। वेदों में अलङ्कारात्मक वर्णन मिलता है*। नाट्य-शास्त्र और अग्नि-पुराण में अलङ्कारों का निरूपण किया ही गया है। अग्निपुराण के बाद जो साहित्य के लक्षण-ग्रन्थ भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट द्वारा लिखे गये हैं उन सभी में अलङ्कारों का पर्याप्त विवेचन ही नहीं किन्तु उन ग्रन्थों के नामों में भी एक दण्डी के काव्यादर्श को छोड़ कर काव्यालङ्कार का प्रयोग किया गया है। इसके द्वारा अलङ्कारों का महत्व निस्सन्देह सिद्ध होता है। नाट्यशास्त्र और अग्नि-पुराण के बाद यद्यपि सबसे प्रथम अलङ्कारों का अधिक विवेचन हमको भामह के काव्यालङ्कार में ही मिलता है किन्तु भामह द्वारा जो अलङ्कार लिखे गये हैं वे प्रायः विभिन्न श्रोतों से एकत्रित किये गये हैं। भामह स्वयं अपने को काव्यालङ्ककार (५।६९) में अलङ्कार सिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं किन्तु परिपोषिक और परिवर्द्धक मात्र बताता है।

अतएव भामह के पूर्व-कालीन विद्वानों द्वारा भी अलङ्कार विषय पर विवेचन किया जाना सिद्ध होता है। किन्तु भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं तो ऐसी परिस्थिति में उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भामह ही अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि कहा

* वेदों में अलङ्कारात्मक वर्णन के उदाहरण प्रथम भाग में दिखाये गये हैं।

जा सकता है। भामह के पश्चात् इस सम्प्रदाय के उल्लेखनीय प्रतिनिधि दण्डी, उद्भट, रुद्रट और उद्भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज हैं, जिनके द्वारा प्रारम्भिक काल में इस सिद्धान्त पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। इन आचार्यों के ग्रन्थों में एक रुद्रट को छोड़ कर जिसने रस विषय पर भी विवेचन किया है—अलङ्कार विषय का ही प्राधान्य है। किन्तु यह बात नहीं कि भामहादि, काव्य में अन्य पदार्थ–रस, भाव, गुण आदि–की आवश्यकता नहीं मानते थे, क्योंकि इन सभी आचार्यों ने रसादिक का भी न्यूनाधिक उल्लेख किया है। और भामह एवं दण्डी ने गुणों का भी निरूपण किया है। किन्तु इन आचार्यों ने काव्य में प्रधानता अलङ्कारों को ही दी है–अतएव इनके मतों के निष्कर्ष रूप में रुय्यक ने कहा है—

'अलङ्काराएव काव्ये प्रधानमितिप्राच्यानां मतः।'

—अलङ्कारसर्वस्व

भामह, दण्डी और उद्भट के बाद साहित्याचार्यों का, रस, अलङ्कार और रीति आदि की प्रधानता के विषय में मत-भेद होने पर भी प्रायः सभी आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य में महत्वपूर्ण पदार्थ समझा है। और अलङ्कारों का मनोविज्ञान के आधार पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरता पूर्वक विवेचन किया है। अतः प्रायः साहित्य ग्रन्थों के अधिक भाग में अलङ्कार विषय का निरूपण ही देखा जाता है, यहांतक कि किसी-किसी ग्रन्थ में तो केवल अलङ्कार का विषय ही दृष्टिगत होता है। इसके द्वारा भी अलङ्कार सम्प्रदाय का महत्व स्पष्ट सिद्ध होता है।

अच्छा, अब प्रथम यह स्पष्ट किया जाना उपयुक्त होगा कि काव्य में—

अलङ्कार क्या पदार्थ है

इस विषय में संक्षिप्त में यही कहना पर्याप्त है कि लौकिक में जिस प्रकार रत्नादि के निर्मित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण अलङ्कार कहे जाते हैं, उसी प्रकार काव्य को शब्दार्थ द्वारा अलंकृत करने वाली रचना को काव्य शास्त्र में अलङ्कार कहते हैं।

काव्य शब्द और अर्थ उभयात्मक है अतः अलङ्कार भी शब्द और अर्थ में विभक्त हैं। शब्द-रचना के वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को अलंकृत करते हैं, वे अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार और अर्थ-वैचित्र्य द्वारा जो काव्य को सुशोभित करते हैं, वे उपमा आदि अर्थालङ्कार कहे जाते हैं। महाराजा भोज ने कहा है—

> 'ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलंकर्तुमिहक्षमाः।
> शब्दालङ्कारसंज्ञास्ते।' (सरस्वती कण्ठाभरण २।२)

और—

> 'अलमर्थमलंकर्तुं यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना।
> ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेर्थालङ्कारसंज्ञया।'
>
> —सरस्वती कण्ठाभरण ३।१

शब्द रचना की विचित्रता प्रायः वर्णों और शब्दों की पुनरावृत्ति पर अवलम्बित है—और अर्थ की विचित्रता विभिन्न प्रकार के अर्थवै-

चित्र्य पर । 'विचित्रता' कहते हैं लोकोत्तर अर्थात् लोगों की स्वाभाविक-साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अतिशय (अत्यन्त बढ़ कर) वर्णन किया जाना । कहा है श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने—

'लोकोत्तरेण चैवातिशयः······अनया अतिशयोक्त्या··· विचित्रतया भाव्यते'* ।

जैसे—(१) बन गाय गैय्या के समान है, (२) क्या यह बन गाय है अथवा गैय्या ?, (३) यह बन गाय नहीं किन्तु गैय्या है, (४) बन गाय मानो गैय्या है । यह वाक्य लोगों की साधारण बोलचाल में कहे गये हैं, इसमें उक्ति-वैचित्र्य नहीं जिससे कुछ आनन्द प्राप्त हो अतएव इनमें अलङ्कार की स्थिति नहीं (यद्यपि इन वाक्यों में क्रमशः उपमा, सन्देह, अपन्हुति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों के लक्षणों का समन्वय हो सकता है) किन्तु यदि इन्हीं उपर्युक्त वाक्यों के स्थान पर (१) मुख चन्द्रमा के समान है, (२) यह मुख है या चन्द्रमा ?, (३) यह मुख नहीं किन्तु चन्द्रमा है, (४) मुख मानो चन्द्रमा है । इस प्रकार वाक्य कहे जांय तो इन वाक्यों में क्रमशः उपमा, सन्देह, अपन्हुति और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की स्थिति हो जाती है, क्यों ? इसलिये कि यह वाक्य साधारण बोलचाल में नहीं कहे गये, इनमें लोकोत्तर अतिशय अर्थात् उक्ति-वैचित्र्य है । इस प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य को सुशोभित करता है । आचार्य भामह ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के प्रकरण में कहा है—

* ध्वन्यालोक लोचन व्याख्या पृ० २०८ ।

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाविना ॥

—का०लं० २।८५

यहां 'वक्रोक्ति' का प्रयोग अतिशयोक्ति के लिये किया गया है, अतिशयोक्ति का पर्याय ही वक्रोक्ति है—

'एवं चात्रातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इतिबोध्यम्'

—काव्यप्रकाश वालबोधिनी टीका पृ० ९०६

वक्रोक्ति का अर्थ है लोकोत्तर उक्ति-वैचित्र्य—

'वक्रा वैचित्र्याधायिका लोकोतिशायिनी उक्तिः कथनम्'।

—काव्यप्र० वालबोधिनी टीका पृ० ९०६

आचार्य दण्डी ने भी कहा है—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥

—काव्यादर्श० २।२२०

अर्थात् आचार्य भामह और दण्डी लोकोत्तर उक्ति-वैचित्र्य या अतिशयोक्ति पर ही अलङ्कारत्व निर्भर बताते हैं। और आचार्य मम्मट ने भी भामह की उपर्युक्त २।८५ की कारिका को विशेषालङ्कार के प्रकरण में उद्धृत की है। निष्कर्ष यह है कि उक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य में अलङ्कार कहते हैं। उक्ति-वैचित्र्य भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, उस

विभिन्नता के आधार पर ही अलङ्कारों के विभिन्न नाम निर्दिष्ट किये गये हैं, श्री मदानन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

'यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्'।

—ध्वन्या० पृ० २४३

काव्य में अलङ्कार का स्थान

अच्छा, अब यह विचारणीय है कि काव्य में अलङ्कारों का क्या स्थान है। अर्थात् काव्य में अलङ्कारों को कितना महत्व दिया गया है। और किस-किस आचार्य ने काव्य में अलङ्कारों की स्थिति अनिवार्य और किस-किस ने ऐच्छिक बतलाई है। इसके लिये प्रथम यह द्रष्टव्य है कि काव्य में काव्यत्व की स्थिति किस पदार्थ पर निर्भर है। इसमें तो किसी आचार्य का मतभेद हो ही नहीं सकता कि काव्यत्व चमत्कार पर ही निर्भर है। किन्तु उस चमत्कार का आधायक मुख्य पदार्थ क्या है, इसी पर आचार्यों के विभिन्न मत हैं। ध्वन्यालोक के प्रथम ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ पर तो कोई ग्रन्थ लिखा ही नहीं गया था अतएव ध्वन्यालोक के प्रथम के साहित्य ग्रन्थों में रस, गुण और अलङ्कार ही काव्य में चमत्कारक पदार्थ माने जाते थे। अतः काव्यत्व के लिये रस, गुण और अलङ्कार इन

तीनों की ही स्थिति आवश्यक है अथवा एक या दो की स्थिति पर्याप्त है। इस विषय में प्रथम ध्वन्यालोक के पूर्ववर्ती आचार्यों के मत पर विचार करने पर विदित होता है कि—

(१) प्राचीनतम नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने काव्य में सर्वोपरि चमत्कारक पदार्थ रस को ही बताया है। यद्यपि नाट्यशास्त्र में अलङ्कार और गुणों का निरूपण भी किया गया है, पर इनको अधिक महत्व नहीं दिया गया है। रस के महत्व के विषय में भरतमुनि ने कहा है—

'तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः। न हि रसादृते कश्चित्पदार्थः प्रवर्तते।

—नाट्यशास्त्र अ० ६

अतएव भरतमुनि के मतानुसार रस युक्त होना ही काव्यत्व के लिये पर्याप्त है।

(२) अग्निपुराण के—

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्।'

—३३७।३३

इस वाक्य में काव्य का जीवन सर्वस्व केवल रस को बतलाते हुए भी—

'अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।'

—३४५।२

और—

'वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।'

—३४३।१

इन वाक्यों द्वारा अलङ्कार और गुण की स्थिति भी काव्य में आवश्यक बतलाई गई है। अर्थात् जिस प्रकार रस को काव्य का जीवनाधार बताया गया है, उसी प्रकार अलङ्कार-रहित काव्य को वैधव्य स्त्री के समान चमत्कार-हीन और गुण-हीन काव्य को कुरूपा स्त्री के समान चित्ताकर्षक नहीं माना गया है। अतएव अग्निपुराण के मतानुसार काव्य में रस, अलङ्कार और गुण तीनों का ही होना परमाश्यक है।

(३) अग्निपुराण के बाद भामह ने—अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि होने पर भी—अलङ्कार और गुण का लक्षण नहीं लिखा है। रस के विषय में—

'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।'

—काव्यालं० १।२१

इस वाक्य द्वारा महाकाव्य में रस की स्थिति का होना आवश्यक अवश्य बतलाया है। पर रसों को—

'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा।' (काव्यालं० ३।६)

इस कारिका द्वारा रसवत् अलङ्कार के नाम से और भावों को 'प्रेय' अलङ्कार के नाम से अलङ्कारों के अन्तर्गत ही बतला दिया है।

(४) दण्डी ने भी अलङ्कार का कोई विशेष लक्षण न लिख कर अलङ्कार प्रकरण के प्रारम्भ में—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'

—काव्यादर्श २।१

इस अग्निपुराण के (३४२।१७) श्लोकार्ध को उद्धृत करके अलङ्कारों को काव्य के शोभाकारक धर्म बताये हैं और—

'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।'

—का०द० १।५१

इस कारिका में शृङ्गारादि रसयुक्त रचना को मधुर गुण वाली बतला कर और—

'कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति।'

—का०द० १।६२

इस कारिका में अलङ्कारों को रस के पोषक बतला कर अर्थात् रस को प्रधानता देकर भी रस और भाव विषय को भामह के अनुसार—

'रसवद्रसपेशलम्।' (काव्यादर्श २।२७५)
'प्रेयः प्रियतराख्यानम्।' (काव्यादर्श २।२७५)

इन कारिकाओं में रसवत् और प्रेय अलङ्कार का विषय बतला कर अलङ्कारों में ही रसों और भावों का समावेश कर दिया है।

(५) भामह और दण्डी के बाद उद्भट ने भी—

'रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम्।'

—काव्यालङ्कारसारसंग्रह ४।४४

इत्यादि कारिकाओं में रस और भावादि विषय को अलङ्कारों के अन्तर्गत ही माना है। अतएव भामह, दण्डी और उद्भट के मतानुसार अलङ्कार की स्थिति ही प्रधानतया काव्यत्व के लिये पर्याप्त है फिर वह

चाहे रसवत् अलङ्कार युक्त हो अथवा उपमा आदि अन्य अलङ्कार युक्त।

गुण और अलङ्कारों में भामह और दण्डी ने संभवतः कुछ भेद नहीं माना है। भामह ने भाविक अलङ्कार के लिये जिस प्रकार 'गुण' शब्द का प्रयोग किया है—

'भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्धविषयंगुणम्।'

—का०लं० ३।५३

उसी प्रकार दण्डी ने भी गुण और अलङ्कार दोनों के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है*। और उद्भट ने तो अलङ्कार और गुण में भेद मानने वाले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर आक्षेप भी किया है।

(६) उद्भट के बाद वामन ने रसों को—'दीप्तरसत्वं कान्तिः।' ३।२।१५ इस सूत्र में गुणों के अन्तर्गत माना है और गुणों को प्रधानता देते हुए 'रीति' को ही काव्य का आत्मा माना है। वामन के मत में किसी रचना में रस या अलङ्कार हों या न हों—केवल गुण-विशिष्ट 'रीति' का होना ही काव्यत्व के लिये पर्याप्त है।

(७) वामन के बाद रुद्रट ने अलङ्कारों को शब्द और अर्थ को अलंकृत (शोभायमान) करने वाले बताये हैं। और रस के विषय में रुद्रट ने—

* देखिये दण्डी का काव्यादर्श १।४१, १।४२, १।१०१ और २।३

"तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्" ।

—काव्यालं० १२।२

यह कह कर काव्य में रस का होना परमावश्यक बतलाया है। रुद्रट ने रस को महत्व अवश्य दिया है, पर रस को काव्य का जीवन नहीं कहा है और अलङ्कारों को अपने ग्रन्थ में प्रथम स्थान देकर तथा विस्तृत विवेचन करके अलङ्कारों को भी रस से कम महत्व नहीं दिया है। अतएव रुद्रट के मतानुसार केवल रस युक्त और केवल अलङ्कार युक्त रचना में भी काव्यत्व हो सकता है। अच्छा, अब रुद्रट के बाद ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य का ध्वन्यालोक हमारे सम्मुख आता है।

(८) ध्वनिकारों के प्रथम रस—जो काव्य में सर्व-प्रधान है, वह—क्या पदार्थ है, इस पर उपर्युक्त आचार्यों में किसी आचार्य ने ध्यान नहीं दिया था। ध्वनिकारों ने इस पर विचार करके यह स्थिर किया कि 'रस' वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ नहीं, इन दोनों से (वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से) भिन्न है और वह व्यञ्जना वृत्ति का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ है*। अतएव ध्वनिकारों ने रस को काव्य में सर्वोपरि पदार्थ मानते हुए भी अपने ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का समावेश करके अपने अपूर्व विवेचन द्वारा रस को ध्वनि का ही एक प्रधान भेद नियत कर

* 'रस' वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ क्यों नहीं, और वह व्यञ्जन का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ किस प्रकार है, इसका स्पष्टीकरण आगे ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रसङ्गानुसार किया जायगा।

दिया। ध्वनिकारों के प्रथम प्रधानतया रस और अलङ्कारों पर ही काव्यत्व निर्भर था पर ध्वनिकारों ने काव्य की आत्मा ध्वनि को निरूपण करके काव्य में सर्वोपरि स्थान पर व्यङ्ग्यार्थ को ही स्थापित कर दिया है। किन्तु ध्वनि को काव्य का आत्मा कहने से ध्वनिकारों का तात्पर्य व्यंग्यार्थ का काव्य में प्राधान्य मात्र सूचन करने का प्रतीत होता है—न कि काव्य की व्यापकता को ध्वनि या व्यंग्यार्थ में सीमित करने का। क्योंकि ध्वनिकारों ने गुणीभूतव्यंग्य में (जिसमें व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ प्रायः समकक्ष होते हैं) और वाच्यार्थ के अलङ्कारों में भी काव्यत्व स्वीकार किया है, जैसा कि उन्होंने—

> ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
> न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदिस्यात्प्रतिभागुणः॥'
>
> —ध्वन्यालोक ४।६

इस वाक्य में स्पष्ट कहा है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यात्मक काव्यार्थ का विश्राम अर्थात् अन्त नहीं, यदि कवि में प्रतिभा हो। इसी प्रकार इसके आगे—

> "शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव……।'
>
> —ध्वन्या० उल्लास ४

इस वाक्य में व्यङ्ग्यार्थ-रहित शुद्ध वाच्यार्थ रूप अलङ्कारात्मक काव्यार्थ की भी अनन्तता बतलाई है। यही नहीं ध्वनिकारों को स्वभावोक्ति—वन, नदी आदि के प्राकृत वर्णनात्मक रचना में काव्यत्व अभीष्ट है—

स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते ।

अलङ्कारों के विषय में भी उन्होंने स्पष्ट कहा है—

'यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः··· ।'*

—ध्वन्या० उल्लास ४

इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि ध्वनिकारों को केवल रसादि व्यङ्ग्यार्थ अर्थात् ध्वनि में ही नहीं किन्तु केवल वाच्यार्थ रूप अलङ्कारों की स्थिति में भी काव्यत्व अभीष्ट है ।

(९) ध्वनिकारों के बाद महाराजा भोज के—

"वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वासु 'ग्राहिणीं' तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥"

इस वाक्य में रस को प्रधानता अवश्य दी गई है, पर वक्रोक्ति अर्थात् स्वतन्त्र अलङ्कारों की स्थिति में भी काव्यत्व स्वीकार किया गया है ।

(१०) आचार्य मम्मट का इस विषय में क्या मत है, इसके लिये संक्षिप्त में यही कहना पर्याप्त है कि हमारे विचार में मम्मट का मत ध्वनिकारों के ही अनुसार है । अर्थात् मम्मट ने जिस प्रकार केवल व्यंग्य-प्रधान (ध्वनि) रचना में काव्यत्व स्वीकार किया है, उसी प्रकार व्यङ्ग्य-रहित अलङ्कार युक्त रचना में भी काव्यत्व स्वीकार किया

* पूरे वाक्य के लिये देखो इस ग्रन्थ का पृ० २०३

है। यद्यपि काव्यप्रकाश के सर्व-प्रधान व्याख्याकार श्री गोविन्द ठक्कुर ने अपनी 'प्रदीप' व्याख्या में एवं सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नागेश भट्ट ने अपनी 'उद्योत' व्याख्या में काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण की व्याख्या में कहा है—

'मम्मट के मतानुसार स्पष्टतया तो तीन प्रकार की—(१) सरस अलङ्कार युक्त, (२) सरस अस्फुट अलङ्कार युक्त और (३) नीरस अस्फुट अलङ्कार युक्त रचना में काव्यत्व हो सकता है, पर काव्य में चमत्कार या तो रसादि पर या अलङ्कार पर निर्भर है, जहां रस हो वहां तो अलङ्कार स्फुट न हो तो काव्यत्व के लिये रस की स्थिति पर्याप्त है। किन्तु जहां रस और स्फुट अलङ्कार दोनों ही न हों वहां अस्फुट अलङ्कार में चमत्कार न होने के कारण नीरस रचना में स्फुट अलङ्कार का होना आवश्यक है, अतः हम तो (अर्थात् प्रदीप-कार) समझते हैं कि मम्मट को भी यही अभीष्ट है* ।"

किन्तु इस विषय में प्रदीपकार का यह विवेचन हमारे विचार में युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि मम्मटाचार्य ने काव्य में रस को सर्वोच्च पदार्थ मानते हुए भी काव्य के लक्षण में रस का स्वतंत्र नामोल्लेख नहीं किया है—'शब्दार्थौ' के प्रयोग में व्यंग्यार्थ द्वारा ही रस का ग्रहण किया है। और न रस का आश्रय लेकर मम्मट ने काव्य का विभाग ही किया है। मम्मट ने तो काव्य का सामान्य लक्षण बता कर काव्य के

* देखिये काव्यप्रकाश की प्रदीप व्याख्या में काव्यप्रकाशोक्त काव्य-लक्षण की व्याख्या।

तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अवर (अधम) व्यंग्यार्थ के आधार पर ही विभक्त किये हैं अर्थात् व्यंग्य-प्रधान काव्य को उत्तम, गौण-व्यंग्य वाले काव्य को मध्यम और व्यंग्य-रहित अलङ्कारात्मक काव्य को अधम बताया है। अतएव मम्मट ने जब व्यंग्य-प्रधान ध्वनि काव्य के मुख्य भेदों में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु से वस्तु ध्वनि वाले काव्यों का समावेश किया है तो वस्तु ध्वनि में न रस होता है और न स्फुट अलङ्कार ही। ऐसी स्थिति में यह निर्विवाद सिद्ध है कि मम्मट को नीरस और अस्फुट अलङ्कार वाली रचना में भी काव्यत्व स्वीकृत है। अतः काव्यप्रकाश के अन्तिम (नवीन) व्याख्याकार श्री वामनाचार्य ने बालबोधिनी व्याख्या में प्रदीपकार के मत के साथ मम्मटाचार्य के मत का जो स्पष्टीकरण किया है, उसका खण्डन भी प्रदीपकार की आलोचना के साथ ही हो जाता है। प्रदीपकार जैसे साहित्यमर्मज्ञों के प्रतिकूल लेखनी उठाना निस्सन्देह इस नगण्य लेखक का दुःसाहस है। संभव है इस लेखक का विचार ही भ्रान्त हो पर साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों के लिये यह विषय विचारणीय अवश्य है।

मम्मट ने काव्य में किस पदार्थ को मुख्य माना है, इस विषय का पहिले 'काव्य लक्षण' निबन्ध के अन्तर्गत काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण के विवेचन में अधिकांश में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अतः यहां अधिक उल्लेख अनावश्यक है। हां, गुण और अलङ्कार के विषय में मम्मट के मत का यहां अलङ्कार सम्प्रदाय में उल्लेख किया जाना आवश्यक है।

भामह और दण्डी ने गुणों और अलङ्कारों को संभवतः काव्य में समान स्थान दिया है। और वामन ने गुणों को (रीति गुणों पर ही निर्भर है) काव्य में सर्व प्रधान स्थान दिया है। और उद्भट के पूर्ववर्ती अज्ञात आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों में भेद माना है, क्योंकि उद्भट ने गुण और अलङ्कारों में भेद बताने वाले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर आक्षेप किया है। उद्भटचार्य ने कहा है—

'एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः। ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डुलिका-प्रवाहेणैवैषां भेदः।"

अर्थात् उद्भट कहता है—जिन विद्वानों ने गुणों को मनुष्य में शौर्य आदि के समान समवाय वृत्तिवाले (नित्य रहने वाले) और अलङ्कारों को हार आदि आभूषणों के समान संयोग वृत्ति वाले (कभी साथ और कभी अलग रहने वाले) बता कर गुण और अलङ्कारों में जो भेद माना है वह भेड़ियाधसान मात्र है। क्योंकि शौर्य आदि गुण और हार आदि आभूषण लौकिक होने के कारण इन दोनों में भेद माना जा सकता है। किन्तु काव्य में गुण और अलङ्कार दोनों ही अलौकिक होते हैं अतः इन दोनों का समवाय (नित्य) सम्बन्ध ही है।"

किन्तु आचार्य मम्मट ने न तो उद्भट के मतानुसार गुण और अलङ्कारों को समकक्ष ही माना है और न वामन के मतानुसार गुणों का काव्य में सर्वोपरि प्राधान्य ही स्वीकार किया है।

मम्मट ने उद्भट के इस वाक्य को उद्धृत करके इसकी आलोचना में 'इत्यभिधानमसत्'* (यह कहना ठीक नहीं) इस प्रकार कह कर गुण और अलङ्कार में क्या भेद है वह प्रत्यक्ष दिखा दिया है†। मम्मट ने—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।'

—काव्यप्र० ८।६६

इसमें गुणों को काव्य में प्रधानभूत रस के धर्म, रस के उत्कर्षक और रस में अचलस्थिति से रहने वाले बताया है। और अलङ्कारों का सामान्य लक्षण—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।'

—काव्यप्र० ८।६७

* मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास ८।६७ की वृत्ति में इस अवतरण को स्पष्ट उद्भट के नाम से नहीं लिखा है। पर उद्भट के 'भामहविवरण' का यह उद्धरण है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन विवेक में (पृ० १७) किया है और काव्यप्रकाश के व्याख्याकारों ने भी ऐसा ही लिखा है।

† मम्मट ने इस विषय को उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। हमने भी रसमञ्जरी में इसके उदाहरण दिखाये हैं। यहां विस्तार भय से उदाहरण नहीं दिखाये गये हैं।

यह लिखा है। अर्थात् काव्य में अङ्गी (प्रधान) रस है। और शब्द एवं अर्थ उसके अङ्ग है। मम्मट के मतानुसार जिस प्रकार हार आदि आभूषण मनुष्य के कण्ठ आदि अङ्गों में धारण किये जाने पर प्रथम उसके अङ्ग—कण्ठ आदि को शोभित करते हैं—चमत्कृत करते हैं, फिर उन चमत्कृत अङ्गों द्वारा मनुष्य को शोभित करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ के अलङ्कार प्रथम शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं—चमत्कृत करते हैं, फिर उनके द्वारा रस को उपकृत करते हैं। और जिस काव्य में रस स्पष्ट रूप से नहीं होता है, वहां वे—अलङ्कार—केवल शब्द या अर्थ को ही अलंकृत करते हैं। और कहीं (किसी काव्य में) रस होने पर भी विजातीय (अनमेल) अलङ्कार होने के कारण उसका (रस का) कुछ उपकार नहीं करते। अर्थात् मम्मट ने गुण और अलङ्कार का विभाग इस प्रकार बताया है—

गुण	अलङ्कार
रस के धर्म हैं।	रस के धर्म नहीं किन्तु शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं।
रस के साथ नित्य रहते हैं।	रस के साथ नित्य नहीं रहते नीरस काव्यों में भी रहते हैं।
रस के साथ रह कर रस का अवस्य साक्षात् उपकार करते हैं।	रस के साथ रह कर भी कभी शब्दार्थ के द्वारा रस का उपकार करते है और कभी नहीं।

मम्मट ने इस प्रकार गुण और अलङ्कार में क्या भेद है वह स्पष्ट दिखा दिया है। इसके अतिरिक्त वामन के बताये हुए गुण और अलङ्कारों के—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

—काव्यालङ्कार सूत्र ३।१।१,२

इन लक्षणों में वामन ने गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म और अलङ्कारों को उस गुण-कृत शोभा के उत्कर्षक बतलाये हैं, मम्मट ने इसका भी खण्डन किया है। मम्मट का कहना है—

"ऐसी भी रचना होती है जिसमें 'गुण' काव्य की शोभा करने वाला नहीं होता है केवल अलङ्कार की स्थिति द्वारा ही उस रचना को काव्य माना जाता है। जैसे—

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्यारदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्॥"[1]

—काव्यप्र० ८।६७ वृत्ति

इस रचना में शृङ्गार रस है किन्तु यहां शृङ्गार रस के अनुकूल 'माधुर्य' गुण व्यञ्जक वर्णोंकी रचना नहीं है अर्थात् वामन, गुणों को काव्य के

---

१ इस श्लोक का अर्थ यह है कि रूपवती कामिनी मनुष्य के लिए इसी देह में स्वर्ग की प्राप्ति है (क्योंकि) इसके अधर का रस, अमृत का अत्यन्त तिरस्कार करता है।

शोभाकारक बताता है वह गुण-कृत शोभा इस काव्य में नहीं है प्रत्युत यहां कठोर वर्णों की रचना होने के कारण 'ओज' गुण-व्यञ्जक रचना है—जो कि शृङ्गार रस में त्याज्य है। और वामन, अलङ्कार को जो गुण-कृत शोभा का अतिशय-कारक बताता है वह भी यहां नहीं है अर्थात् न यहां अलङ्कार ही गुण-कृत शोभा को बढ़ाने वाला है। क्योंकि जब यहां गुण-कृत शोभा ही नहीं है तब अलङ्कार गुण-कृत शोभा को किस प्रकार बढ़ा सकता है ? जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं उसका बढ़ाना कैसे संभव हो सकता है ? अतएव वामन के मतानुसार इस पद्य में काव्यत्व नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी वामन के मतानुसार ही इस पद्य में विशेषोक्ति [१] और व्यतिरेक [२] अलङ्कारों की स्थिति होने के कारण इस पद्य में काव्यत्व सिद्ध होता है। अत-

---

१-२ वामन ने उपमेय में एक गुण की हानि की कल्पना करके शेष गुणों द्वारा साम्य (समता) की दृढ़ता की जाने में 'विशेषोक्ति' और उपमेय में उपमान की अपेक्षा अधिक गुण कहा जाने में 'व्यतिरेक' अलङ्कार माना है (देखो काव्यालं० सूत्र ४।३।२३,२२) इस पद्य के पूर्वार्द्ध में इसी देह द्वारा स्वर्ग प्राप्ति कथन करके दिव्य-देह (देवताओं के देह) न होने रूप एक गुण के अभाव की कल्पना करके सुखदायक आदि शेष गुणों द्वारा कामिनी की स्वर्ग के साथ समता दृढ़ की जाने से विशेषोक्ति है। और उत्तरार्द्ध में अधर रस रूप उपमेय में अमृत रूप उपमान से अधिकता कही जाने से व्यतिरेक अलंकार वामन के ही मतानुसार है।

एव ऐसी स्थिति में वामन के बताये हुए गुण और अलङ्कार दोनों के न तो लक्षण ही उपयुक्त हैं, और न गुण एवं अलङ्कार का वामन का बताया हुआ विभाग ही।"

यद्यपि वामन के इस मत की पुष्टि प्रतिहारेन्दुराज ने भी उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या (पृ० ८१, ८२) में की है। किन्तु वामन के मत के साथ उसका भी खण्डन हो जाता है।

(११) मम्मट के बाद रुय्यक और मंखक ने काव्य का लक्षण स्वतंत्र न देकर पूर्वाचार्यों के मत दिखला कर ध्वनिकार का मत मान्य किया है।

(१२) चन्द्रालोक प्रणेता जयदेव ने यद्यपि अलङ्कार का सामान्य लक्षण—

'हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः।'

—चन्द्रा० ५।१

प्रायः मम्मट के अनुसार ही लिखा है। किन्तु जयदेव ने अलङ्कारों को यहां तक प्रधानता दी है कि काव्यप्रकाशोक्त काव्य लक्षण के—अलंकृती क्वापि' इस अंश पर—

'अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दर्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।'

—चन्द्रा० १।८

इस प्रकार आक्षेप करके अलङ्कार-रहित रचना को—चाहे वह रस-ध्वनि आदि युक्त भी हो—काव्यत्व नहीं माना है। पर जयदेव

अपने इस मत को अपने ग्रन्थ में निभा न सका। क्योंकि उसने आगे चलकर ध्वनि-काव्य के भेदों में मम्मटाचार्य के अनुसार ही—

अलङ्कारमलङ्कारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति चेत्।

७।७

इत्यादि कारिकाओं में वस्तु ध्वनि को भी स्वीकार कर लिया है—जिसमें अलङ्कार की स्थिति नहीं होती। फलतः जयदेव भी ध्वनिकार और मम्मट का अनुयायी ही सिद्ध होता है।

(१३) साहित्यदर्पण प्रणेता विश्वनाथ ने यद्यपि अलङ्कार का सामान्य लक्षण तो—शब्दार्थयोरस्थिरा······।' (सा० द० १०।१) प्रायः मम्मट के अनुसार ही लिखा है। किन्तु काव्य के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं।' इस लक्षण में काव्य को एकमात्र रस में ही मर्यादित कर दिया है, पर विश्वनाथ को भी अन्ततोगत्वा ध्वनिकार और मम्मट का अनुसरण करने के लिये बाध्य होना पड़ा है, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कारात्मक रचना में भी काव्यत्व स्वीकार करना पड़ा है। इसके मत की विस्तृत आलोचना पहिले काव्य-लक्षण के निबन्ध में की जा चुकी है।

(१४) रसगङ्गाधर प्रणेता हमारे पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है। रमणीयता, चमत्कार पर ही निर्भर है। अतएव पण्डितराज के मतानुसार भी रस, रसातिरिक्त वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार प्रत्येक में स्वतन्त्र रूप से काव्यत्व माना जा सकता है। पण्डितराज के कहने की शैली भिन्न होने पर भी प्रायः ध्वनिकार एवं मम्मट के मत के अनुकूल ही है।

बस, ऊपर के विवेचन द्वारा ज्ञात हो सकता है कि किस-किस आचार्य ने काव्य में अलङ्कारों का क्या-क्या स्थान निर्दिष्ट किया है। जो कुछ हो, यह तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने काव्य में अलङ्कारों को महत्वपूर्ण पदार्थ माना है। और अलङ्कारों के क्रम-विकास पर भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, महाराजा भोज, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ, अप्यय्य दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ ने उल्लेखनीय प्रकाश डाला है। अतएव अलङ्कार सम्प्रदाय के मुख्य परिपोषक यही आचार्य हैं।

अच्छा, अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रकरण में अलङ्कारों के क्रम-विकास के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला जाना उपयुक्त ही नहीं आवश्यक भी है। क्रम-विकास के लिये प्रथम यह दिखाया जाना उचित होगा कि नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के बाद भामह आदि से पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक किस किस आचार्य द्वारा कितनी संख्या के कौन कौन अलङ्कार निरूपण किये गये हैं और उन अलङ्कारों में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों में परवर्ती किस किस आचार्य द्वारा किस किस अलङ्कार को स्वीकार किया गया है। इसकी स्पष्टता के लिये यहां अलङ्कार विवरण तालिकाएं दी जाती हैं—

अलङ्कार विवरण तालिका संख्या १

निम्न लिखित ५२ अलङ्कार ऐसे हैं जो भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के समय (ई० ८००) तक निरूपित हो चुके थे। इन ५२ में कितने-कितने अलंकार, इन चारों ने तथा इनके बाद किस-किस आचार्य ने स्वीकार किये हैं जिसका विवरण इस प्रकार है।

संख्या	नाम अलंकार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१	अतिशयोक्ति	१	१	१	१	उपमा में	१	१	१
२	अनन्वय	२	उपमा में	२	२	उपमा में	उपमा में	२	२
३	अनुप्रास	३	२	३	३	१	२	३	३
४	अपन्हुति	४	३	४	४	२	३	४	४
५	अप्रस्तुत प्रशंसा या अन्योक्ति	५	४	५	५	३	४	५	५
६	अर्थान्तरन्यास	६	५	६	६	४	५	६	६
७	आक्षेप	७	६	७	७	५	६	७	७

संख्या	नाम अलङ्कार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
८	आवृत्ति	०	७	०	०	०	०	०	०
९	आशी	८	८	०	०	०	०	०	०
१०	उत्प्रेक्षा	९	९	८	८	६	७	८	८
११	उत्प्रेक्षावयव	१०	उत्प्रेक्षा में	०	संसृष्टी में	०	०	०	०
१२	उदात्त	११	१०	९	०	०	०	९	९
१३	उपमा	१२	११	१०	९	७	८	१०	१०
१४	उपमारूपक	१३	रूपक में	०	संसृष्टी में	०	०	०	०
१५	उपमेयोपमा	१४	उपमा में	११	१०	उपमा में	उपमा में	११	११
१६	ऊर्जस्वी	१५	१२	१२	०	०	०	०	१२
१७	काव्यलिङ्ग	०	०	१३	०	०	ज्ञापक हेतु में	१२	१३
१८	छेकानुप्रास	०	०	१४	०	०	अनुप्रास में	१३	१४

संख्या	नाम अलङ्कार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१९	तुल्ययोगिता	१६	१३	१५	११	०	९	१४	१५
२०	दीपक	१७	१४	१६	१२	८	१०	१५	१६
२१	दृष्टान्त	०	०	१७	०	९	साम्यप्रपंचोक्तिमें	१६	१७
२२	निदर्शना	१८	१५	१८	१३	०	११	१७	१८
२३	निपुण	यह अलङ्कार केवल भट्टि ने लिखा है				०	०	०	०
२४	पर्यायोक्त	१९	१६	११	०	०	१२	१८	१९
२५	परिवृत्ति	२०	१७	२०	१४	१०	१३ पर्याय	१९	२०
२६	पुनरुक्तवदाभास	०	०	२१	०	०	०	२०	२१
२७	प्रतिवस्तूपमा	उपमामें	उपमामें	२२	१५	०	साम्यमें	२१	२२
२८	प्रेय	२१	१८	२३	०	०	०	०	२३
२९	भाविक	२२	१९	२४	०	०	१४	२२	२४

संख्या	नाम अलङ्कार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
३०	यथासंख्य या क्रम	२३	२०	२५	१६	११	१५	२३	२५
३१	यमक	२४	२१	०	१७	१२	१६	२४	२६
३२	रसवत्	२५	२२	२६	०	०	०	०	२७
३३	रूपक	२६	२३	२७	१८	१३	१७	२५	२८
३४	लाटानुप्रास	अनुप्रास में	०	२८	०	०	अनुप्रास में	२६	२९
३५	लेश	०	२४	०	०	१४	१८	०	०
३६	वक्रोक्ति	०	०	०	१९	१५	१९	२७	३०
३७	विभावना	२७	२५	२९	२०	१६	२०	२८	३१
३८	विरोध	२८	२६	३०	२१	१७	२१	२९	३२
३९	विशेषोक्ति	२९	२७	३१	२२	०	२२	३०	३३
४०	व्यतिरेक	३०	२८	३२	२३	१८	२३	३१	३४
४१	व्याजस्तुति	३१	२९	३३	२४	०	०	३२	३५

संख्या	नाम अलङ्कार	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
४२	व्याजोक्ति	०	०	०	२५	०	०	३३	३६
४३	श्लेष	३२	३०	३४	२६	१९	२४	३४	३७
४४	संकर	०	०	३५	२०	०	संसृष्टी में	३५	३८
४५	सन्देह	३३	उपमा में	३६	२७	२१	२५	३६	३९
४६	समासोक्ति	३४	३१	३७	२८	२२	२६	३७	४०
४७	समाहित	३५	३२	३८	२९	०	२७	०	४१
४८	संसृष्टी	३६	३३	३९	३०	संकर में	२८	३८	४२
४९	सहोक्ति	३७	३४	४०	३१	२३	२९	३९	४३
५०	सूक्ष्म	०	३५	०	०	२४	३०	४०	४४
५१	स्वभावोक्ति या जाति	३८	३६	४१	०	२५	३१	४१	४५
५२	हेतु	०	३७	०	०	२६	३२	०	०
		३८	३७	४१	३१	२६	३२	४१	४५

अलङ्कार विवरण तालिका संख्या २

इस तालिका में निम्न लिखित ५१ अलङ्कार ऐसे हैं जिनको भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इन पाँचों में किसी ने नहीं लिखे हैं। इन पाँचों के बाद रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक के समय तक नवाविष्कृत हैं। इनमें किसके द्वारा कितने अलङ्कार नवाविष्कृत किये गये और आविष्कारक के बाद किस-किस ने स्वीकार किये उसका विवरण इस प्रकार है—

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१	अधिक	१	विरोध में	१	१
२	अन्योन्य	२	२	२	२
३	अनुमान	३	१	३	३
४	अवसर	४	०	०	०
५	असंगति	५	विरोध में	४	४
६	उत्तर	६	२	५	५
७	उभयन्यास	७	अर्थान्तरन्यास में	०	०
८	एकावली	८	परिकरमें	६	६
९	कारणमाला	९	हेतु में	७	७
१०	चित्र	१०	४	८	८
११	तद्गुण	११	०	९	९
१२	पर्याय	१२	५	१०	१०
१३	परिकर	१३	६	११	११

ंख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१४	परिसंख्या	१४	०	१२	१२
१५	प्रती ।	१५	साम्य में	१३	१३
१६	प्रत्यनीक	१६	विरोध में	१४	१४
१७	पूर्व	१७	०	०	०
१८	पिहित	१८	०	०	०
१९	भ्रान्तिमान्	१९	७	१५	१५
२०	भाव	२०	८	०	०
२१	मत	२१	०	०	०
२२	मीलित	२२	९	१६	१५
२३	विषम	२३	विरोध में	१७	१७
२४	व्याघात	२४	०	१८	१८
२५	विशेष	२५	०	१९	१९
२६	सम्मुच्चय	२६	१०	२०	२०
२७	सार	२७	११	२१	२१
२८	साम्य	२८	१२	०	०
२९	स्मरण	२९	१३ स्मृति	२२	२[illegible]
३०	अहेतु	०	१४	०	[illegible]
३१	अभाव	०	१५	०	[illegible]
३२	अर्थापति	०	१६	०	[illegible]
३३	आप्तवच ।	०	१७	०	
३४	उपमान	०	१८	०	

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
३५	प्रत्यक्ष	०	१९	०	०
३६	बितर्क	०	२०	० (सन्देह में)	०
३७	संभव	०	२१	०	०
३८	समाधि	०	२२	२३	२३
३९	अतद्गुण	०	०	२४	२४
४०	मालादीपक	०	०	२५	२५
४१	बिनोक्ति	०	०	२६	२६
४२	सामान्य	०	०	२७	२७
४३	सम	०	०	२८	२८
४४	उल्लेख	०	०	०	२९
४५	काव्यार्थापत्ति	०	०	०	३०
४६	परिणाम	०	०	०	३१
४७	विचित्र	०	०	०	३२
४८	विकल्प	०	०	०	३३
४९	भावोदय	०	०	०	३४
५०	भावसंधि	०	०	०	३५
५१	भावशवलता	०	०	०	३६
		२९	२२	२८	३६
५२	तालिकासंख्या १ के—	२६	३२	४१	४५
१०३	पूर्ण संख्या	५५	५४	६९	८१

ऊपर की दोनों तालिकाओं में संख्या १ की तालिका में ऐसे ५२ अलङ्कार हैं, जो भामह दण्डी, उद्भट और वामन के समय तक (लगभग ईसा की ९ वीं शताब्दी तक) निरूपित हो चुके थे। इस तालिका द्वारा विदित हो सकता है कि भामह ने ३८, दण्डी ने ३७, उद्भट ने ४१ और वामन ने ३१ स्वतन्त्र अलङ्कार निरूपण किये हैं। और वे किस किस नाम के हैं तथा पूर्वनिरूपित किस किस अलङ्कार को परवर्ती किस किस आचार्य ने उसके सजातीय अलङ्कार के अन्तर्गत माना है। और इन ५२ में उक्त चारों आचार्यों के बाद किस किस नाम के रुद्रट ने २६, भोज ने ३२, मम्मट ने ४१ और रुय्यक ने ४५ स्वीकार किये हैं।

संख्या २ की तालिका में ५१ अलङ्कार ऐसे हैं जो भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के बाद (ईसा की ८ वीं शताब्दी के बाद) रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक द्वारा लगभग ईसा की १२ वीं शताब्दी तक निरूपित किये गये हैं। इस (संख्या २ की) तालिका द्वारा विदित हो सकता है कि किस किस नाम के अलङ्कार किस किस आचार्य द्वारा सर्व प्रथम निरूपण किये गये हैं और उनमें किस किस नाम के अलङ्कार पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा निरूपित परवर्ती आचार्य द्वारा स्वीकृत किये गये हैं।

इन दोनों तालिकाओं के विवरण द्वारा यह भी ज्ञात हो सकता है कि लगभग ईसा की १२ वीं शताब्दी तक विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या कुल १०३ है। और यह भी ज्ञात हो सकता है कि इन १०३ में किस-किस नाम के रुद्रट ने ५५, भोज

ने ५४, मम्मट ने ६९ और रुय्यक ने ८१ अलङ्कार स्वतन्त्र लिखे हैं। और अपने पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा निरूपित किस-किस अलङ्कार को परवर्ती आचार्य ने सजातीय अन्य अलङ्कारों के अन्तर्गत माना है।

इन तालिकाओं में जिन-जिन आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या दी गई है उसमें और उन आचार्यों के ग्रन्थों में दी गई अलङ्कारों की किसी-किसी नामावली में कुछ न्यूनाधिक अवश्य दृष्टि-गत होगा। जैसे भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में अलङ्कारों की सूची में ७२ अलङ्कारों के नाम है किन्तु उनमें कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जिनको अन्य आचार्यों ने अलङ्कार का विषय नहीं मान कर स्वतन्त्र विषय माना है। तथा कुछ अलङ्कारों में केवल नाम भेद है, ऐसे अलङ्कारों का इन तालिकाओं में उल्लेख नहीं किया गया है। इसी प्रकार रुद्रट ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किये हैं, उनकी संख्या ५८ है। किन्तु उनमें कुछ अलङ्कार एक-एक नाम के एक से अधिक वर्गों में रख कर उनकी भी रुद्रट ने पृथक् गणना की है, ऐसे अलङ्कारों की भी इस तालिकाओं में पृथक् गणना नहीं की गई है। बस, ऐसे ही अन्य कुछ कारणों से संख्या में न्यूनाधिक हो गया है।

यहांतक ईसा की १२ वीं शताब्दी तक के विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या और नामावली इन दोनों तालिकाओं में दी गई है। इनके अतिरिक्त सन् १२०० ई० के बाद लगभग ईसा की १८ वीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रन्थों में विभिन्न लेखकों द्वारा जो अधिक अलङ्कार लिखे गये हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१६ जयदेव ने चन्द्रालोक में ८ शब्दालङ्कार और १८ अर्थालङ्कार सब ८९ अलङ्कार लिखे हैं जिनमें ७३ अलङ्कार† पूर्व निरूपित हैं, जिनका ऊपर की तालिकाओं में उल्लेख हो गया है, शेष निम्न लिखित १६ अलङ्कार अधिक हैं—

१ अत्युक्ति	५ असंभव	९ पूर्वरूप	१३ विषादन
२ अनुगण	६ उन्मीलित	१० प्रहर्षण	१४ संभावना
३ अर्थानुप्रास	७ उल्लास	११ प्रौढोक्ति	१५ स्फुटानुप्रास
४ अवज्ञा	८ परिकुरांकुर	१२ विकस्वर	१६ हुंकृति

५ विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में १२ शब्दालङ्कार और ७० अर्थालङ्कार और ७ रसवदादि सब ८९ अलङ्कार लिखे हैं। जिनमें ८४ अलङ्कार‡ पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित है शेष ५ अलङ्कार अधिक हैं—

† पूर्व निरूपित ७३ अलंकारों में—

६६ मम्मट द्वारा स्वीकृत ६९ में संकर, संसृष्टी और सूक्ष्म यह तीन जयदेव ने नहीं लिखे हैं शेष ६६ मम्मट के अनुसार है जिनका नाम ऊपर की तालिकाओं द्वारा ज्ञात हो सकता है।

५ रुय्यक के आविष्कृत १ उल्लेख, २ विचित्र, ३ विकल्प, ४ परिणाम और ५ काव्यार्थापत्ति।

२ आवृत्ति (दण्डी-लिखित) और पिहित (रुद्रट लिखित)

‡ पूर्व निरूपित ८२ में विश्वनाथ ने ८१ रुय्यक द्वारा स्वीकृत लिखे हैं और १ हेतु (दण्डी आदि लिखित लिखा है)

३ शब्दालङ्कार—	२ अर्थालङ्कार—
१ श्रुति अनुप्रास	१ अनुकूल
१ अन्त्यनुप्रास	१ निश्चय
१ भाषासम	

२ वाग्भट द्वितीय ने काव्यानुशासन में अन्य और अपर यह दो अलङ्कार नवीन लिखे हैं।

१८ अप्पटय दीक्षित ने कुवलयानन्द में ७ रसवद् आदि, ९ प्रमाणादि और १०२ अर्थालङ्कार सब ११८ अलङ्कार निरूपण किये हैं। शब्दालङ्कार दीक्षितजी ने नहीं लिखे हैं। अर्थालङ्कारों में ८४ + अलङ्कार पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित हैं और शेष निम्न लिखित १८ अलङ्कार अधिक हैं—

१ अनुज्ञा	६ प्रस्तुताङ्कुर	११ रत्नावली	१५ विशेषक
२ अल्प	७ प्रतिषेध	१२ ललित	१७ व्याजनिन्दा
३ गूढोक्ति	८ मिथ्याध्यवसिति	१३ लोकोक्ति	१८ कारकदीपक
४ छेकोक्ति	९ मुद्रा	१४ विधि	
५ निरुक्ति	१० युक्ति	१५ विवृतोक्ति	

पूर्व निरूपित ८४ अलङ्कार दीक्षित ने लिखे हैं जिनका विवरण —

७९ जयदेव द्वारा लिखित ८९ में दीक्षित ने ८ शब्दालंकार १ हुंकृति यह ९ तो नहीं लिखे और १ अनुमान दीक्षित ने प्रमाणालंकारों के अन्तर्गत लिखा है।

५ पूर्वाचार्यों के निरूपित १ लेश, २ संकर, ३ संसृष्टी, ४ सूक्ष्म ओर ५ हेतु जो जयदेव ने नहीं लिखे थे वे दीक्षित ने लिखे हैं।

३६ शोभाकर का अलङ्काररत्नाकर प्रायः अप्राप्य है उसमें सब कितने अलङ्कार लिखे हैं, यह अज्ञात है। नीचे लिखे ३६ अलङ्कार पूर्वाचार्यों से अधिक हैं जिनका परिचय कविराजा मुरारिदान के जसवन्तजसोभूषण द्वारा मिलता है—

१	अचिन्त्य	२	अतिशय	३	अनादर	४	उदाहरण
५	अनुकृति	६	अवरोह	७	अशक्य	८	आदर
९	आपत्ति	१०	उद्भेद	११	उद्रेक	१२	असम
१३	क्रियातिपत्ति	१४	गूढ	१५	तन्त्र	१६	तुल्य
१७	निश्चय	१८	परभाग	१९	प्रतिप्रसव	२०	प्रतिमा
२१	प्रत्यादेश	२२	प्रत्यूह	२३	प्रसङ्ग	२४	वर्द्धमानक
२५	व्याप्ति	२६	व्यासङ्ग	२७	संदेहाभास	२८	सजातीय व्यतिरेक
२९	विकल्पाभास	३०	विध्याभास	३१	विनोद	३२	विपर्यय
३३	विवेक	३४	वैधर्म्य	३५	व्यत्यास	३६	समता

८ यशस्क का अलङ्कारोदाहरण भी प्रायः अप्राप्य है। उसमें नीचे लिखे ८ अलङ्कार नवीन है, जिनका परिचय भी जसवंतजसोभूषण द्वारा मिलता है—

१	अङ्ग	३	अप्रत्यनीक	५	अभीष्ट	७	तत्सदृशाकार
२	अनङ्ग	४	अभ्यास	६	तात्पर्य	८	प्रतिवन्ध

२ भानुदत्त ने २ अलङ्कार नवीन लिखे हैं जिनका परिचय भी जयवन्तजसोभूषण द्वारा मिलता है अनध्यवसाय और भङ्गी।

१ पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में १ तिरस्कार अलंकार अधिक लिखा है ।

. पूर्ण संख्या ८८

इन ८८ अलङ्कारों के साथ ऊपर की तालिकाओं के १०३ अलङ्कार मिला देने पर कुल संख्या १९१ होती है ।

अलङ्कारों का क्रम विकास

अलङ्कारों के क्रम-विकास पर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि महामुनि भरत के नाट्यशास्त्र में सबसे प्रथम चार और उसके बाद अग्निपुराण में १६ अलङ्कारों की संख्या अलङ्कारों के आंशिक क्रम-विकास की प्रथमावस्था सूचन करती है, जैसा कि प्रारम्भिक काल में होना स्वाभाविक है । उसके बाद लगभग ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, फिर भी इस मध्यवर्ती समय में अलङ्कारों का क्रम-विकास अवश्य हुआ है । क्योंकि भामह और भट्टि के ग्रन्थों में जो अलङ्कारों की संख्या ३८ है, वह भामह या भट्टि द्वारा ही परिवर्द्धित नहीं की गई है । किन्तु भामह द्वारा काव्यालङ्कार में किये गये पूर्ववर्ती बहुत से अज्ञात एवं ज्ञात नामा आचार्यों के मतों के उल्लेख से [१] स्पष्ट है कि भामह के पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों द्वारा—जिनका समय अज्ञात है—अलङ्कारों का क्रम-विकास शनैःशनैः होता रहा है । भट्टि और भामह के बाद (ईसा की लगभग छठी शताब्दी के बाद) दण्डी, उद्भट और वामन के समय (ईसा की आठवीं शताब्दी) तक अलङ्कारों की संख्या लग-

---

१ देखिये, प्रथम भाग पृष्ठ ११०, १११

भग ५२ हो गई है। यद्यपि यह परिवर्द्धित संख्या महत्वपूर्ण नहीं है, तथापि विषय विवेचन द्वारा क्रम-विकास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। अतः भट्टि भामह से वामन तक (ईसा की ८ वीं शताब्दी तक) अलङ्कारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल है। उसके बाद ईसा की नवीं शताब्दी के रुद्रट से लेकर महाराजा भोज, आचार्य मम्मट और रुय्यक इन चारों आचार्यों के समय तक (सन ११५० ई० तक) अलङ्कारों की संख्या १०३ तक पहुंच गई है। और अलङ्कारों के क्रम-विकास का मध्यवर्ती यही काल महत्व-पूर्ण है। उसके बाद जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित तथा कुछ अन्यान्य लेखक और पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक (ईसा की १८ वीं शताब्दी तक) अलङ्कारों की संख्या यद्यपि लगभग १९१ तक पहुंच जाती है। किन्तु इस संख्या में बहुत से अलङ्कार ऐसे भी कुछ आचार्यों ने स्वतन्त्र लिख दिये हैं जिनमें विलक्षण चमत्कार न होने के कारण उनका अन्य अलङ्कारों के अन्तर्गत समावेश हो जाता है। इसी प्रकार कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं जिनमें चमत्कार सर्वथा न होने के कारण सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है। ऐसे अलङ्कारों का नाम रुय्यक के समय तक का तो ऊपर की तालिकाओं द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। उसके बाद जयदेव के हुंकृति, अर्थानुप्रास, स्फुटानुप्रास; विश्वनाथ के पांचों, वाग्भट के दोनों, यशस्क के आठों, भानुदत्त के दोनों, शोभाकर के ३६ में ३४ * केवल इन

* शोभाकर का 'उदाहरण' और असम दो अलङ्कार पण्डितराज ने स्वीकार किये हैं।

लेखकों के ग्रन्थों तक ही सीमित रह गये—इनके परवर्ती किसी लेखक ने स्वीकार नहीं किये। इनके सिवा जयदेव और अप्पय्य द्वारा नवीन निरूपित अलङ्कारों को भी काव्यप्रकाश के उद्योत व्याख्याकार नागेश भट्ट ने मम्मट निरूपित अलङ्कारों के अन्तर्गत दिखाने की चेष्टा की है। अस्तु अब यहां अलङ्कार-विषयक एक और भी ज्ञातव्य बात का उल्लेख किया जाना आवश्यक है, और वह है अलङ्कारों का वर्गीकरण।

अलङ्कारों का वर्गीकरण

यह पहिले कहा गया है कि प्रत्येक अलङ्कार में उक्ति-वैचित्र्य अर्थात् वर्णन करने की शैली विभिन्न रहती है। ऐसा होने पर भी अलङ्कारों के कुछ मूल-तत्व ऐसे हैं जिनके आधार पर सजातीय अनेक अलङ्कारों का एक-एक समूह अपने मूल-तत्व पर अवलम्बित हैं। उन मूल-तत्वों के आधार पर अलङ्कारों को भिन्न-भिन्न समूह में विभक्त किया जा सकता है। इस विषय पर रुद्रट के (ईसा की नवीं शताब्दी के) प्रथम किसी आचार्य ने लक्ष्य नहीं दिया। सबसे प्रथम रुद्रट ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार मूल-तत्वों पर चार श्रेणियों में विभक्त किया है। रुद्रट का वर्गीकरण मूल-तत्वों के आधार पर होने पर भी महत्व-पूर्ण नहीं, क्योंकि मूल-तत्वों का विभाजन यथार्थ नहीं हो पाया है। अतएव यहां उसका विस्तृत बिवरण देकर विस्तार करना

अनुपयुक्त है[1]। रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व में जो अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है वह मूल-तत्वों के आधार पर यथार्थ होने के कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है।

रुय्यक ने अपने निरूपित अर्थालङ्कारों में निम्न लिखित अलङ्कारों को सात वर्गों में इस प्रकार विभक्त किया है—

२८ अलङ्कार सादृश्य-गर्भ या उपमागर्भ[2]

४ भेदाभेद तुल्य प्रधान[3]—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

८ अभेद प्रधान[4]—

---

१ इसका स्पष्टीकरण लेखक ने अपने काव्य कल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग अलंकारमञ्जरी की भूमिका में किया है।

२ इन २८ अलंकारों का वीजभूत मूल-तत्व साधर्म्य (उपमा) है। साधर्म्य का वर्णन तीन प्रकार से होता है—भेदाभेद तुल्य प्रधान, अभेद प्रधान और भेद प्रधान। साधर्म्य कहीं शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाता है और कहीं गम्य (छिपा हुआ) रहता है। अतएव जिस-जिस अलंकार में जिस-जिस प्रकार का साधर्म्य रहता है, उसके अनुसार इनका अवान्तर वर्गीकरण भी किया गया है।

३ इन चारों अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में भेद और अभेद कुछ नहीं कहा जाता है तुल्य प्रधान साधर्म्य रहता है।

४ इन आठों अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में अभेद कहा जाता है। इनमें भी रूपक आदि ६ में उपमेय में उप-

६ आरोप-मूल—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपन्हुन्ति ।

२ अध्यवसाय मूल—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति ।

१६ गम्यमान औपम्य[1]—

२ पदार्थगत[2]—तुल्ययोगिता और दीपक ।

३ वाक्यार्थगत[3] — प्रतिपस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना

१ भेद प्रधान[4] — व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति[5] ।

२ विशेषण वैचित्र्य[6]—समासोक्ति और परिकर ।

मान का आरोप किया जाता है अतः आरोप मूल सादृश्य होता है और उत्प्रेक्षा में अनिश्चित रूप से एवं अतिशयोक्ति में निश्चित रूप से उपमेय में उपमान का अध्यवसाय किया जाता है, अतः अध्यवसाय-मूल सादृश्य होता है ।

१ इन १६ अलंकारों में उपमेय-उपमान भाव या सादृश्य शब्द द्वारा नहीं कहा जाता किन्तु गम्य (छिपा) रहता है ।

२ इन दोनों में उपमेय या उपमानों का या दोनों का सादृश्य एक पद में कहा जाता है अतः पदार्थ गत गम्य सादृश्य रहता है ।

३ इन तीनों में वाक्य के अर्थ में गम्य सादृश्य रहता है ।

४ इन तीनों में उपमेय उपमान के सादृश्य में भेद पूर्वक गम्य सादृश्य रहता है ।

५ विनोक्ति को, सहोक्ति के विरोधी होने के कारण इस वर्ग में रक्खा गया है ।

६ इन दोनों में विशेषण-वैचित्र्य-गात गम्यसादृश्य रहता है ।

१ विशेषण विशेष्य वैचित्र्य[1]—श्लेष।

१ अप्रस्तुतप्रशंसा (समासोक्ति के विरुद्ध होने के कारण)

१ अर्थान्तरन्यास (अप्रस्तुतप्रशंसा का सजातीय होने के कारण)

३ पर्यायोक्त व्याजस्तुति और आक्षेप—गम्यत्व-वैचित्र्य होने के कारण इसी वर्ग में रक्खे गये हैं।

१२ **विरोध मूल**। इनका मूल-करण विरोधात्मक वर्णन है—

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति[2] (कार्यकारण पौर्वापर्य्य विपर्यय) असङ्गति और विषम।

४ **शृङ्खला बन्ध मूल**। इनमें शृङ्खला (सांकल) की भांति एक पद या वाक्य का दूसरे पद या वाक्य के साथ संबन्ध रहता है।

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार,

३ **न्याय मूल**। ये तर्क न्याय के आश्रित हैं—

काव्यलिङ्ग और अनुमान

८ **काव्य न्याय मूल**—

यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि।

---

१ श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों के वैचित्र्य में गम्य सादृश्य रहता है।

२ रुय्यक ने अतिशयोक्ति को २ वर्गों में रक्खा है एक तो अध्यवसाय मूल वर्ग में और दूसरे विरोध-मूल वर्ग में।

७ लोकन्यास—

प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, और उत्तर।

३ **गूढार्थ प्रतीति**। यह गूढ़ अर्थ की प्रतीति पर निर्भर हैं—

सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति

इनके अतिरिक्त नीचे लिखे अलंकारों को किसी वर्ग में विभक्त नहीं किया है—

२ मिश्रित—संकर और संसृष्टी।

३ स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त।

७ रस, भाव संबन्धीय—रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शवलता।

अलङ्कारों के लक्षण और उदाहण

इस विषय में भी संस्कृत के प्राचीन आचार्यों का प्रायः मतभेद है। अतएव इस विषय पर भी संस्कृत के कुछ सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में महत्वपूर्ण आलोचनात्मक विवेचन किया है। जिनमें पण्डितराज का रसगङ्गाधर विशेषतया उल्लेखनीय है। हिन्दी भाषा के प्राचीन या आधुनिक साहित्य ग्रन्थों में इस विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। इन पंक्तियों के लेखक के हिन्दी के अलंकारमञ्जरी ग्रन्थ (काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के द्वितीय भाग) में इसी आलोचनात्मक शैली द्वारा इस विषय का भी विस्तृत विवेचन किया गया है।



रीति सम्प्रदाय

'रीति' शब्द रीङ् धातु से बना है—'रीङ् गतौ'। काव्य में 'रीति' शब्द मार्ग का पर्याय माना गया है। महाराजा भोज ने कहा है—

'वैदर्भादिकृतःपन्थाः काव्ये मार्ग इतिस्मृतः।
रीङ्गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।'

—सरस्वतीकण्ठा० २।२७

इसकी व्याख्या में कहा है—

'रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यऽनयेतिकरणसाधनोऽयं रीति शब्दो मार्गपर्यायः।'

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि वामन ने 'रीति' का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

'विशिष्टापदरचना रीतिः।' 'विशेषो गुणात्मा'।

—काव्यालङ्कारसूत्र १।२।७-८

अर्थात् विशेष प्रकार की माधुर्य आदि गुण युक्त-पदों वाली रचना को रीति कहते हैं। अतएव 'रीति' गुणों पर ही अवलम्बित होने के कारण प्रथम गुणों के विषय में विवेचन किया जाना आवश्यक है।

गुणों का महत्व

गुणों का निरूपण तो प्रायः सभी साहित्य ग्रन्थों में है, किन्तु कुछ ग्रन्थों में गुणों का महत्व भी प्रदर्शित किया गया है। अग्निपुराण में कहा है—

'अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।'[1]

—अध्याय० ३४६।१

आचार्य वामन ने गुणों का महत्व प्रदर्शित करते हुए कहा है—

'युवतेरिवरूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः'[2]

१ अलंकार युक्त भी काव्य गुण-रहित हो तो प्रीति-जनक (मनोरञ्जक) नहीं हो सकता, जैसे कुरूपा स्त्री के हार आदि आभूषण केवल भार रूप होते हैं।

२ युवती के रूप के समान काव्य, अलंकार-रहित (युवती पक्ष में हार आदि आभूषण और काव्य-पक्ष में उपमा आदि अलंकार रहित) भी केवल गुण युक्त (युवती पक्ष में शालीनता आदि और काव्य-पक्ष में 'ओज' आदि गुण युक्त) रसिक जनों के चित्त का आकर्षक होता है। और वह गुण युक्त (काव्य या स्त्री का रूप) अलंकारों से युक्त होने पर अत्यन्त आकर्षक हो जाता है।

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्योवपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।'[1]

—काव्यालंकारसूत्र ३।१।२ वृत्ति

महाराज भोज ने भी कहा है—

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः ।[2]

—सरस्वतीक० १।५९

गुणों का लक्षण

अच्छा, अब यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि काव्य में 'गुण' किसको कहते हैं । नाट्यशास्त्र में गुणों का लक्षण न लिख कर दोषों

१ अनेक सुन्दर आभूषणों से युक्त भी जिस प्रकार कामिनी का शरीर यदि शालीनता आदि गुणों से रहित हो तो दुर्भग होता है, उसी प्रकार उपमा आदि अलंकारों से युक्त भी काव्य यदि ओज आदि गुणों से वर्जित हो तो दुर्भग (आनादरणीय) होता है ।

२ अलंकारों से युक्त भी गुण-रहित काव्य चित्ताकर्षक नहीं होता अतः काव्य का गुण और अलंकारों के सम्बन्ध में गुणों से युक्त होना परमावश्यक है । अर्थात् अलंकार चाहे न भी हों पर गुण अवश्य होने चाहिये ।

के विपर्यय को गुण बताया गया है। और अग्निपुराण में गुण का लक्षण यह लिखा है—

'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।'

—३४६।३

गुण वह है जो काव्य में अत्यन्त शोभा को अनुगृहीत करता है। अर्थात् काव्य को अत्यन्त शोभित करता है वह गुण है। अग्निपुराण के बाद भामह, दण्डी और उद्भट ने गुण का लक्षण नहीं बताया है। और न गुण और अलङ्कार में कुछ भेद ही बताया है, जैसा कि अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत दिखाया गया है। अग्नि-पुराण में गुण को काव्य का शोभा-कारक बताया गया है। और दण्डी ने अलंकारों को भी काव्य को शोभित करने वाले धर्म बताये हैं। दण्डी ने कहा है—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'

—काव्याद० २।१

जब गुण और अलङ्कार दोनों ही काव्य के शोभा-कारक माने गये तो प्रश्न होता है कि इनमें भेद ही क्या रहा? फिर इनके पृथक्-पृथक् नाम क्यों रक्खे गये? किन्तु आश्चर्य है कि इस प्रश्न पर उपलब्ध ग्रन्थों में वामन के प्रथम किसी साहित्याचार्य ने लक्ष्य नहीं दिया है। सर्व प्रथम वामन ने ही काव्यालंकारसूत्र में गुणों और अलंकारों में क्या भेद है इस विषय में अपना मत प्रकट किया है।

वामन का मत

वामन ने—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारोधर्मा गुणाः।'
'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।'

—काव्यालङ्कारसूत्र ३।१।१,२

इन दो सूत्रों में गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म और अलङ्कारों को उस गुण-कृत शोभा के उत्कर्षक (बढ़ाने वाले) बताये हैं। और इन दोनों सूत्रों की—

'ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते चौजः प्रसादादयः। न यमकोपमादयः। कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजः प्रसादादीनां तु केवलनामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।'

इस वृत्ति में कहा है कि 'केवल गुण काव्य के शोभाकारक हैं—केवल अलंकार नहीं'। अर्थात् वामन दो बात कहता है—एक तो यह कि जिस रचना में केवल 'गुण' हों वह काव्य माना जा सकता है, और दूसरी बात यह कि जिस रचना में केवल अलङ्कार हों वह काव्य नहीं माना जा सकता। इन दोनों बातों में वामन की दूसरी बात के विषय में अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत यह दिखाया जा चुका है। (पृ० ११९-२१) कि वामन का यह मत सर्वथा निस्सार है। अब वामन की प्रथम बात

की भी निस्सारता आगे के विवेचन द्वारा काव्य-मर्मज्ञों को स्वयं विदित हो जायगी।

वामन के इस मत की आलोचना के लिये अब क्रमशः वामन के गुण विषयक सभी मतों पर विवेचन किया जाता है—

गुणों को संख्या

गुणों की संख्या के विषय में भी मतभेद है। महामुनि भरत ने १० गुण निरूपण किये हैं—(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) समाधि, (५) माधुर्य, (६) ओज, (७) पद सौकुमार्य, (८) अर्थव्यक्ति, (९) उदारता और (१०) कान्ति। अग्निपुराण में शब्द के ७, अर्थ के ६ और शब्दार्थ उभय के ६ इस प्रकार १९ गुण निरूपण किये गये हैं। आचार्य दण्डी ने गुणों के नाम और संख्या तो भरतमुनि के अनुसार ही लिखी है किन्तु गुणों के क्रम और लक्षणों में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया है। वामन ने शब्द के १० और अर्थ के १० गुण बताये हैं। और महाराजा भोज ने शब्द के २४, और अर्थ के २४ गुणों का निरूपण किया है।

एक श्रेणी के आचार्यों ने गुणों की संख्या में जब कि इस प्रकार वृद्धि की है, तो दूसरी श्रेणी के भामह आदि ने केवल 'माधुर्य' 'ओज' और 'प्रसाद' यही तीन गुण बताये हैं।

गुणों की इस विभिन्न संख्या के विषय में आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में स्वतन्त्रता का साम्राज्य प्रतीत होता है। इस

विषय पर संभवतः प्राचीनाचार्यों द्वारा गम्भीर विचार नहीं किया गया है। वस्तुतः ध्यान पूर्वक देखा जाय तो नाट्यशास्त्र और दण्डी के निरूपित गुणों का अधिकांश में जिस प्रकार वामन के निरूपित १० गुणों में समावेश हो जाता है उसी प्रकार महाराजा भोज द्वारा निरूपित गुणों का भी प्रायः अधिकांश में वामन के निरूपित गुणों में समावेश हो जाता है—केवल नाम मात्र का भेद रह जाता है। अतएव आचार्य मम्मट ने वामन के मत की ही आलोचना की है। मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न मतों पर विचार करके भामह के मत को सारभूत समझ कर उसी के अनुसार केवल तीन ही गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद स्वीकार किये हैं। और वामन के बताये हुए शब्द के (१) ओज, (२) प्रसाद, (३) श्लेष, (४) समता, (५) समाधि, (६) माधुर्य, (७) सौकुमार्य, (८) उदारता, (९) अर्थव्यक्ति और (१०) कान्ति इन दश गुणों में बहुत से तो मम्मट ने अपने स्वीकृत तीन (माधुर्य, ओज और प्रसाद) गुणों के अन्तर्गत और शेष, दोष के अभावरूप एवं दोष रूप स्पष्ट सिद्ध करके दिखा दिये हैं। मम्मट का कहना है 'वामन के बताए हुए श्लेष, समता, उदारता, प्रसाद और ओज इन पांचों का हमारे स्वीकृत ओज को ध्वनित करने वाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है। और 'माधुर्य' हमारे स्वीकृत माधुर्य की अभिव्यञ्जक-रचना है। और वामन ने जो 'समता' नाम का गुण माना है वह दोष रूप है, न कि गुण क्योंकि समता की सर्वत्र स्थिति अनुचित है—प्रतिपाद्य विषय की उद्भटता और अनुद्भटता के अनुसार एक ही पद्य में भिन्न-भिन्न शैली का

प्रयोग किया जाना आवश्यक है—न कि सर्वत्र समता। और वामन ने जिनको 'कान्ति' और 'सुकुमारता' गुण बताया है, वे ग्राम्यत्व और कष्टत्व दोषों के अभाव मात्र हैं, न कि गुण, क्योंकि काव्य में उक्त दोनों दोषों को दूर कर देने पर कान्ति और सुकुमारता की स्थिति स्वयं हो जाती है। अब रहा 'अर्थव्यक्ति' सो हम 'प्रसाद' गुण को मानते हैं, तब उसकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है—अर्थ व्यक्ति का अर्थ है अर्थ का स्पष्ट सुगमता पूर्वक ज्ञान होना, वही तो प्रसाद गुण है।'

इसी प्रकार वामन ने अर्थ के भी १० गुण बताये हैं, जिनके नाम शब्द के गुणों के अनुसार ही हैं किन्तु आचार्य मम्मट कहते हैं—

"वामन के निरूपित अर्थ के गुणों में श्लेष और ओज के प्रथम चार भेद तो बिचित्रता मात्र है, अतः इनको गुण नहीं कह सकते, यदि ऐसी विचित्रता को ही गुण मान लिया जाय तो अर्थ वैचित्र्य तो प्रत्येक श्लोक में रहता है—उन सभी को गुण स्वीकार कर लेने में तो गुणों की संख्या की गणना ही न हो सकेगी। और वामन ने अधिक पद न होने को 'प्रसाद' गुण (प्रयोजक मात्र परिग्रहः प्रसादः—का०ल० सूत्र ३।२।३)। उक्ति-वैचित्र्य को माधुर्य ('उक्ति-वैचित्र्यं माधुर्यम् ३।२।११) कठोरता न होने को सौकुमार्य (अपारुष्यं सौकुमार्यम् ३।२।१२) ग्राम्यता न होने को 'उदारता' ('अग्राम्यत्वमुदारता' ३।२।१३) विषमता न होने को समता—('अवैषम्यं समता' ३।२।५) और पदों का साभिप्राय होना 'ओज' गुण का पांचवा भेद—(साभिप्रायत्व मेवच

३।२।२) बताया है, किन्तु यह सब क्रमशः अधिकपदत्व, अमङ्गल रूप अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व, भग्नप्रक्रमत्व और अपुष्टार्थत्व रूप दोष के अभाव मात्र हैं, अर्थात् उक्त दोष न होना ही इनका स्वरूप है, तब इनको दोष के अभाव ही कहे जा सकते हैं—न कि गुण। और वामन ने स्वभाव के स्पष्ट वर्णन करने को अर्थ व्यक्ति माना है—('वस्तुस्वभावस्फुटत्वमथव्यक्तिः' ३।२।१४ किन्तु यह स्वभावोक्ति अलङ्कार है—न कि गुण। वामन ने जो रस के स्पष्टतया प्रतीत होने में, 'कान्ति' गुण माना है—('दीप्तरसत्वं कान्तिः' ३।२।१२) वह रस, ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य रसवत् अलंकार आदि का विषय है—न कि गुण। और जो 'समाधि' गुण बतलाया है, वह कवि के अन्तःकरण में रहने वाली ज्ञान रूप वस्तु है अतः वह काव्य का कारण है—न कि गुण अतएव वामनोक्त अर्थ के दशों गुण, गुण नहीं माने जा सकते"।

आचार्य मम्मट के प्रतिपादित इस मत का महत्व और इसकी सर्व-मान्यता का सर्वोपरि प्रमाण यह है कि हेमचन्द्र, विश्वनाथ जैसे सुप्रसिद्ध आलोचक और साहित्याचार्यों ने मम्मट के स्वीकृत तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद ही स्वीकार किये हैं। यह तो हुआ गुणों की सख्या का विवेचन अब यह विवेचनीय है कि—

काव्य में गुण क्या पदार्थ हैं

मम्मटाचार्य ने गुणों का सामान्य लक्षण-

'ये रस्यस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।'

—काव्यप्रकाश ८।६६

यह लिखा है। अर्थात् 'गुण' रस के धर्म, रस के उत्कर्ष के हेतु और रस में अचलस्थिति से रहने वाले हैं। गुणों को रस के धर्म इसलिये कहा है कि जिस प्रकार शूरता आदि जीवात्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के आत्मा स्थानीय रस के ही धर्म हैं (रस में ही रहते हैं) न कि वर्ण रचना में। तथा उत्कर्ष के हेतु इस लिये कहा है कि जिस प्रकार शूरता आदि गुण आत्मा में अन्य अशूर पुरुषों की अपेक्षा वीर पुरुषों का महत्व प्रकट करते हैं, उसी प्रकार गुण भी काव्य के मुख्यतत्व रस में उत्कर्ष करते हुए रस-रहित काव्य की अपेक्षा सरस काव्य का महत्व प्रकट करते हैं। और गुणों को रस में अचलस्थिति वाले इस लिये कहा है कि गुण रस के साथ निरन्तर रहते हैं—जहां रस होगा वहां गुण अवश्य होगा। यदि गुणों को केवल रस के उत्कर्षक मात्र कहा जाता तो गुणों के लक्षण की अलंकारों में अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि रस के उत्कर्षक तो प्रायः अलंकार भी होते हैं, किन्तु सर्वत्र नहीं*। और यदि गुणों को रस के केवल धर्म कहे जाते तो रस में शृङ्गारत्व आदि धर्म भी रहते हैं, इसलिये गुणों के लक्षण में 'रस के उत्कर्षक' 'रस के धर्म' और 'रस में अचलस्थिति वाले' यह तीनों बात कही गई हैं। गुणों के इस लक्षण द्वारा गुण और अलंकार का भेद भी स्पष्ट हो जाता है।

* इसका स्पष्टीकरण उदाहरण देकर लेखक ने अपने काव्य-कल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के प्रथम भाग—रसमञ्जरी में किया है।

मम्मट ने गुणों के सामान्य लक्षण के बाद अपने स्वीकृत तीन गुणों में 'माधुर्य' गुण का लक्षण—

'अल्हादकत्वं माधुर्यं श्रृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।'

—का०प्र० ८।६८-६९

यह लिखा है। अर्थात् जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है—आर्द्र प्राय हो जाता है—पिघल सा जाता है—उस आल्हाद विशेष[1] का नाम माधुर्य गुण है। और वह (माधुर्य) सम्भोग श्रृङ्गार से करुण रस में, करुण रस से विप्रलंभ-श्रृङ्गार में, और विप्रलंभ-श्रृङ्गार से शान्त रस में अतिशय युक्त रहता है क्योंकि करुण, विप्रलंभ और शान्त रस में माधुर्य द्वारा चित्त क्रमशः अधिकाधिक द्रुत हो जाता है। और 'ओज' गुण का लक्षण—

[1] यहां 'आल्हादविशेष' इसलिये कहा गया है कि आल्हाद रूप तो सभी रस हैं किन्तु श्रृङ्गार, करुण और शान्त रसात्मक जिस आल्हादविशेष से चित्त द्रवीभूत हो जाता है, वह माधुर्य गुण है। काव्यप्रकाश की इस कारिका में जो 'आल्हादक' शब्द है उसका अर्थ यहां आल्हाद करने वाला नहीं लिया जा सकता। क्योंकि 'रस' स्वयं आल्हाद रूप हैं—न कि आल्हाद के कारण अतएव यहां 'आल्हादक' पद है वह स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होने के कारण आल्हाद का ही वाचक है।

'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥'

—का०प्र० ८।६९-७०

यह लिखा है। अर्थात् वीर रस में जो उद्दीपकता रूप एक धर्म रहता है, जिसके कारण चित्त ज्वलित जैसा हो जाता है, उसका नाम ओज गुण है। और उस (ओज) की वीर रस में स्थिति रहती है और वह (ओज) वीर रस से अधिक बीभत्स रस में, और बीभत्स रस से अधिक रौद्र रस में रहता है। और प्रसाद गुण का लक्षण—

'शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्‌ सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥'

—का०प्र० ८।७०-७१

यह लिखा है। अर्थात् जो सूखे ईंधन में अग्नि की भांति (रौद्रादि रसों में) तथा स्वच्छ वस्त्र में जल की भांति (श्रृङ्गारादि कोमल रसों में) चित्त को सहसा रस से व्याप्त कर देता है, उस विकासक रूप रस के धर्म को प्रसाद गुण कहते हैं। और इस (प्रसाद गुण) की सभी रसों में स्थिति रहती है।

इन लक्षणों द्वारा स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य गुणों को रस के धर्म मानते हैं, न कि वर्ण-रचना के।

किन्तु वामन गुणों को रस के धर्म न मान कर—'ओजः प्रसाद श्लेष······(का०सू० ३।१।४) इस सूत्र में गुणों की स्थिति पद-

रचना में बताता है। अर्थात् विशेष-विशेष वर्णों (अक्षरों) के प्रयोग और छोटे बड़े समास आदि की रचना में गुणों का रहना बताता है। किन्तु इसका खण्डन करते हुए मम्मट कहते हैं कि गुणों का वास्तविक संबन्ध रसों के साथ है, न कि वर्णात्मक रचना के साथ। क्योंकि मधुर गुण के कारण तो चित्त द्रवीभूत हो जाता है। मधुर वर्णों की रचना को ही यदि माधुर्य गुण माना जाय तो मधुर वर्णों की रचना तो 'वीर' आदि रसों में भी हो सकती है, फिर ऐसी रचना के वीर रस आदि के काव्य द्वारा चित्त द्रवीभूत क्यों नही होता? इसी प्रकार कठोर वर्णों की रचना शृङ्गार रस के काव्य में भी कहीं कहीं देखी जाती है किन्तु उसके द्वारा चित्त दीप्त-ज्वलित जैसा नहीं होता, अतएव सिद्ध होता है कि गुणों की वास्तविक स्थिति वर्ण रचनादि में नहीं। आचार्य हेमचन्द्र आदि भी मम्मट के मतानुसार गुणों का वास्तविक संबन्ध रसों के साथ ही मानते हैं*। यदि यह कहा जाय कि वर्णों के साथ गुणों का संबन्ध वास्तविक नहीं है तो फिर लोग ऐसा क्यों कहते है कि 'इस काव्य में मधुर वर्ण है' 'यह रचना मधुर है' 'यह पदावली ओजपूर्ण है' अर्थात् वर्णों के साथ गुणों का संबन्ध क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि गुणों का वर्ण, समास और रचना के साथ औपचारिक ‡ संबन्ध है। अर्थात्

* देखिये हेमचन्द्र का काव्यानुशासन पृ० १६

‡ किसी वस्तु के धर्म का किसी विशेष सम्बन्ध के कारण दूसरी वस्तु में प्रतीत होना उपचार कहा जाता है।

यह लाक्षणिक प्रयोग है। जैसे शूरवीर होना मनुष्य के आत्मा के धर्म हैं, तथापि लोग कहते हैं कि 'इसका आकार शूरवीर है' किन्तु आकार तो जड़ है—आकार में शूरता कहां, केवल कल्पना मात्र है। अतएव औपचारिक सम्बन्ध से विशेष वर्ण समुदाय, समास और रचना को गुणों की व्यञ्जकता मम्मटाचार्य को भी स्वीकृत है। क्योंकि रस को अपनी व्यक्ति के लिये शब्द और अर्थ भी अपेक्षित हैं—शब्दार्थ द्वारा ही रस अभिव्यक्त होता है। अतएव शब्द और अर्थ रस के संबन्धी हैं और अपने संबन्धी रस के संबन्ध द्वारा शब्द और अर्थ भी परम्परा या गौण संबन्ध से गुण, शब्द और अर्थ में भी रहते हैं। इसी से कोमल वर्णों वाली मधुर रचना* माधुर्य गुण को कठोर वर्णों वाली रचना† ओज गुण को और जिसके सुनते ही अर्थ

* टवर्ग के चार वर्ग ट,ठ, ड,ढ, छोड़ कर 'क' से 'म' तक वर्णों वाली छोटे समास या समास के अभाव वाली वर्ग के अन्त्याक्षर (ङ, ञ, ण, न, म,) युक्त—सानुस्वार वर्णों वाली मधुर रचना होती है।

† वर्ग के पहिले और तीसरे वर्णों का दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग 'क' 'च' आदि का 'ख' 'छ' आदि के साथ सम्बन्ध (जैसे 'च्छ' 'त्थ' 'प्फ') और 'ग' 'ज' आदि का 'घ' 'झ' आदि के साथ योग (जैसे 'ग्घ' 'ज्झ') और 'र' का नीचे ऊपर योग (जैसे 'र्थ' 'क्र' 'द्र') और 'ण' के बिना टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ,) की अधिकता वाली एवं बहुत से पदों के लम्बे समास वाली कठोर रचना होती है।

की सहज प्रतीति हो ऐसी बोध-गम्य रचना प्रसाद गुण को व्यक्त करती है।

मम्मट पर विश्वनाथ की आलोचना

मम्मट ने माधुर्य गुण का लक्षण जो—

'आल्हादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।'

यह बताया है, उस पर विश्वनाथ ने—

"केनचिदुक्तं—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' तन्न"।

इत्यादि वाक्य द्वारा मम्मट पर यह आक्षेप किया है कि माधुर्य को द्रुति का कारण कहा है वह ठीक नहीं। क्योंकि द्रुति यदि किसी का कार्य हो तभी उसका कोई कारण हो सकता है किन्तु द्रुति तो स्वयं रस रूप आल्हाद से अभिन्न है अतएव जैसे 'रस' कार्य नहीं उसी प्रकार द्रुति भी कार्य नहीं। और जब द्रुति कार्य नहीं तो फिर उसका कारण कौन हो सकता है? किन्तु विश्वनाथ का यह आक्षेप निराधार है। क्योंकि द्रुति और माधुर्य अभिन्न (एक) नहीं है। द्रुति सामाजिकों के अनुभव सिद्ध सुकुमार चित्त की एक प्रकार की अवस्था है और वह शृङ्गार आदि मधुर रसों के आस्वाद से—मन के काठिन्य आदि के हट जाने पर उत्पन्न होती है। और माधुर्य द्रुति का प्रयोजक (जनक) है। कहा है—

"सामाजिकानुभवसिद्धः सुकुमारचित्तस्यावस्थाविशेषो-

द्रुतिः । स च मधुररसास्वादादेव (मनः काठिन्याद्यपगमे) जायते, न तु माधुर्यमेव स इति ।"

—बालबोधिनी व्याख्या पृ० ५७४

इसके अतिरिक्त पण्डितराज जगन्नाथ ने भी माधुर्य को द्रुति का प्रयोजक बताया है—

'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्······माधुर्यादिकमस्तु ।'

—रसगङ्गाधर पृ० ५५

यही नहीं, स्वयं विश्वनाथ भी—

'द्रवी भावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मककाठिन्य······ रत्याद्याकारानुबिद्धानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम् ।'

—सा०द० ८।२ वृत्ति

इस वाक्य में रस आदि के स्वरूप से अनुगत, आनन्द के उद्बोध को द्रुति का कारण कह रहा है । अर्थात् द्रुति को कार्य रूप बता रहा है । फिर विश्वनाथ के इस निर्मूल आक्षेप पर अधिक विवेचन अनावश्यक है, यद्यपि इस पर बहुत कुछ वक्तव्य है । विश्वनाथ स्वयं गुण के लक्षण और विवेचन में बुरी तरह विचलित हो गया है विश्वनाथ ने गुण का सामान्य लक्षण तो मम्मट के अनुसार—

'रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा । गुणाः ।'

—सा०द० ८।१

इस प्रकार लिख कर गुणों को रस के धर्म बताया है । फिर

आगे दूसरी—

'चित्तद्रवीभावमयोल्हादो माधुर्यमुच्यते ।'

इस कारिका में अल्हाद को 'द्रुति' नामक चित्त वृत्ति रूप बता दिया है। फिर विश्वनाथ स्वय द्रवीभाव के—

'रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन········'

इस लक्षण में हेतु तृतिया से आनन्द (आल्हाद) और 'द्रुति' में परस्पर कार्य-कारण भाव स्पष्ट स्वीकार कर रहा है। अर्थात् अपने आजीव्य आचार्य मम्मट के कहे हुए जिस 'कार्य-कारण भाव' पर विश्वनाथ ने आक्षेप किया है, उसी 'कार्य-कारण भाव' को अन्ततो-गत्वा विश्वनाथ ने स्वयं स्वीकार किया है। देखिये, विश्वनाथ का यह विवेचन कितना वदतोव्याघात दोष से ग्रसित हो रहा है—किमाश्चर्यमतः परम्'।

रीति

रीति गुणों पर ही निर्भर होने के कारण पहिले गुणों का विवेचन करने के बाद अब 'रीति' के विषय में आचार्यों के विभिन्न मतों का उल्लेख किया जाता है—

रीतियों की संख्या

जिस प्रकार गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों का मतभेद है उसी प्रकार रीतियों की संख्या में भी उनके विभिन्न मत हैं। अग्निपुराण में पाञ्चाली, गौडीय, वैदर्भी, और लाटी इन चार रीतियों का निरूपण किया गया है (अ०पु० ३४०।१) भामह ने गौडीय और वैदर्भी दो रीतियों का ही उल्लेख किया है और इन

दोनों में भी वह विशेष भेद नहीं बताता है—प्रत्युत इन दोनों में भेद मानने वाले अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की उसने आलोचना भी की है (काव्यालं० १।३२)। दण्डी यद्यपि काव्य के अनेक मार्ग (रीति) बताता है किन्तु उनके नामोल्लेख न करके इन्हीं दोनों—वैदर्भी और गौडी— को प्रधान मानता है। और वह भामह के विरुद्ध इन दोनों में स्पष्ट अन्तर भी दिखाता है। दण्डी ने अपने स्वीकृत 'श्लेष' आदि दशों गुणों का वैदर्भी रीति में होना बताया है। और वैदर्भी के विपरीत रचना हो उसे दण्डी ने गौड़ीय रीति बताया है। (काव्याद० १।४२)। वामन ने वैदर्भी, गौड़ी, और पाञ्चाली यह तीन रीति मानी है। और वैदर्भी में अपने स्वीकृत दशों गुणों की गौड़ीय में ओज और कान्ति गुणों की और पाञ्चाली में माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों की स्थिति होना बताया है। रुद्रट ने अग्निपुराण के अनुसार वैदर्भी, गौड़ीय, पाञ्चाली और लाटी यह चार रीति मानी है (काव्यालं० २।४,५)। राजशेखर वामन के अनुसार तीन रीति, बताता है (काव्यमी० पृ० ८,९) और वाग्भट भी वामन का ही अनुसरण करता है। भोजराज ने ६ रीति निरूपण की हैं जिनमें वामन की तीन—वैदर्भी, गौड़ीय एवं पाञ्चाली और रुद्रट की स्वीकृत लाटी के अतिरिक्त आवन्ती और मागधी यह दो अधिक निरूपण की हैं। आचार्य उद्भट और मम्मट ने रीतियों के स्थान पर उपनागरिका, परुषा और कोमला* यह तीन वृत्ति लिखी हैं।

* मम्मट आदि ने माधुर्य गुण व्यञ्जक वर्णों की रचना को उपनागरिका, ओज गुण व्यञ्जक वर्णों की रचना को परुषा और इन

रीतियों के नाम

रीतियों के वैदर्भी आदि जो नाम हैं, वे विदर्भ आदि प्रान्तों के कवियों द्वारा की गई काव्य में जिस प्रकार की रचना-शैली उपलब्ध हुई उसी के अनुसार रीतियों के नाम प्रान्तीय रचना-शैली के सूचक हैं। यह बात दण्डी के उल्लेख द्वारा भी ज्ञात होती है और वामन ने तो—'**विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या**'।

इस सूत्र की—

> '**विदर्भगौड़पाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथा-**
> **स्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या।**'

इस वृत्ति में स्पष्ट कहा है। अतएव विदर्भ (वराड) प्रान्त से वैदर्भी, गौड़ (पूर्वीय) प्रान्त से गौड़ीय, पाञ्चाल (पंजाब) से पाञ्चाली, लाट (गुजरात) प्रान्त से लाटी, अवन्ती (मालव) प्रान्त से आवन्ती और मगध प्रान्त से 'मागधी' यह प्रांतीय सम्बन्ध सूचक नाम हैं। जिस 'रीति' को वामन व्यापक रूप में काव्य का आत्मा बताता है, उस (रीति) को स्वयं वामन केवल प्रान्तीय रचना-शैली बतलाता है। प्रान्तीय–रचना-शैली को काव्य में इतना महत्व दिया जाना कहां तक युक्ति-युक्त है यह अवश्य ही विचारणीय है। फिर रचना शैली के

दोनों में प्रयुक्त वर्णों के अतिरिक्त वर्णों की रचना को कोमला या ग्राम्या वृत्ति की संज्ञा प्रदान की है।

साथ विशेष प्रान्त का सम्बन्ध नियत भी नहीं है। महाकवि कालिदास और दण्डी विदर्भ प्रान्त के होते हुए भी उनकी रचना में वैदर्भी रीति का साम्राज्य है। अतएव रचनाशैली का सम्बन्ध किसी प्रान्त के साथ न रख कर इनके 'उपनागरिका' आदि नाम ही रचनाशैली के अनुसार उपयुक्त हैं, जैसाकि उद्भट और मम्मट ने लिखा है।

वामन के रीति सिद्धान्त का खण्डन

यद्यपि गुण और रीतियों का निरूपण अग्निपुराण के समय से ही देखा जाता है। किन्तु रीति सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि वामन ही है, क्योंकि वामन ने 'रीति' को काव्य में बड़ा उच्च स्थान प्रदान किया है। वामन काव्य का जीवनाधार 'रीति' को ही बतलाता है—'रीति-रात्मा काव्यस्य।' (काव्यालं० सू० १।३।६) किन्तु वामन का यह मत सर्वथा अग्राह्य है। प्रथम तो इस मत की आलोचना ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक (३।५२) में की है। इसके बाद आचार्य मम्मट ने वामन के इस मत की बड़ी सारगर्भित यह आलोचना की है कि 'यदि गुण (या रीति) को ही काव्य का आत्मा मानते हो अर्थात् एक मात्र रीति पर ही काव्यत्व निर्भर बताते हो तो प्रश्न होता है कि तुम सारे गुण जिस रचना में हों उसे काव्य मानते हो या कुछ गुणों के होने पर ही? यदि

सारे गुणों के होने पर ही काव्यत्व मानते हो तो गौड़ीय और पाञ्चाली रीति में तो दो दो गुण ही तुम स्वीकार करते हो, वहां काव्यत्व न होगा, यदि कुछ गुणों के होने पर ही काव्यत्व स्वीकार करते हो तो जिस रचना में केवल 'ओज' आदि गुण ही हों—रसादि न हों, उसकोभी तुम्हारे मत में काव्य माना जाना चाहिये, जैसे—'इस पर्वत पर बड़ी भारी अग्नि प्रज्वलित हो रही है और यह बहुत ही धुआँ निकल रहा है' इस वाक्य की यदि—

'अद्रावत्रप्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येषधूमः'।

इस प्रकार रचना की जाय तो इसमें ओज गुण तो तुमको स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि इसमें गाढ़ रचना है। अतः इसे भी काव्य माना जाना चाहिये क्योंकि जिस गुण को तुम काव्य का आत्मा मानते हो वह (ओज गुण) यहां है ही। किन्तु हम पूछते हैं कि ऐसी रचना को कौन सहृदय काव्य स्वीकार कर सकता है ?।'

अतएव मम्मटाचार्य के इस विवेचन द्वारा सिद्ध है कि गुण या रीति, काव्य का आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि इन पर काव्यत्व निर्भर नहीं। हाँ, यह बात आचार्य मम्मट ने भी अवश्य स्वीकार की है कि काव्य में गुणों का महत्व अलङ्कारों की अपेक्षा अधिक है, जैसा कि पहिले काव्यप्रकाश के गुणों के लक्षण की स्पष्टता में दिखाया गया है।

यद्यपि राजशेखर के 'इति वामनीयाः' (काव्यमी० पृ० १४,२०) इत्यादि वाक्यों द्वारा विदित होता है कि वामन के मतानुयायी कुछ अन्य विद्वान् भी थे। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में 'अभिधावृत्ति-

मातृका' का लेखक एक मुकुल भट्ट ही—जो मम्मट के पूर्व ईसा की दशवीं शताब्दी में हुआ है*—ऐसा है, जिसका परिचय वामन के रीति सिद्धान्त के परिपोषक रूप में हमको वामन के काव्यालङ्कार सूत्र के व्याख्याकार सहदेव के—

"वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोभून्मुकुलाभिधः,
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्।
काव्यालङ्कारशास्त्रं यत्तेनैतद्वामनोदितम्,
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्॥"

इन वाक्यों द्वारा मिलता है। फिर भी यह बात तो सहदेव के इस उल्लेख द्वारा भी स्पष्ट है कि वामन का रीति सिद्धान्त प्रारम्भावस्था में ही शिथिल हो चला था। यदि वामन के मतानुयायी कुछ विद्वान् थे भी तो वे आचार्य मम्मट के पूर्वकालीन ही थे। वामन का रीति सिद्धान्त आचार्य मम्मट की उपर्युक्त आलोचना द्वारा लुप्त प्राय हो गया। क्योंकि मम्मट के बाद वामन के इस सिद्धान्त को मानने वाला हमारे परिचित सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों में कोई भी दृष्टिगत नहीं होता है।



* देखो इस ग्रन्थ का प्रथम भाग मुकुल भट्ट के विषय का उल्लेख पृ० १८२।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय (School)

वक्रोक्ति का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यों और महाकवियों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ में किया गया है। भामह ने वक्रोक्ति का लक्षण यद्यपि स्वतन्त्र नहीं लिखा है। पर भामह के वाक्यों द्वारा स्पष्ट है कि वह वक्रोक्ति को कोई एक विशेष अलङ्कार नहीं, किन्तु व्यापक रूप में वाक्य का भूषण अथवा अलङ्कार बतलाता है। और काव्य का वक्रोक्ति-गर्भित होना परमावश्यक भी बतलाता है—

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।'

—काव्यालङ्कार १।३६

'वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।'

—काव्यलङ्कार ५।६६

इसके अतिरिक्त 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार के प्रकरण में भामह ने वक्रोक्ति की और भी स्पष्टता कर दी है। अतिशयोक्ति संज्ञा के एक विशेष अलङ्कार के लक्षण में प्रथम भामह ने—

'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा'॥

—का०लं०२।८१

इस प्रकार लोकातिक्रान्त अर्थात् अलौकिक वर्णन को अतिशयोक्ति नाम का एक अलङ्कार बता कर फिर कहा है—

'सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ।।
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना' ।।

—का०लं० २।८४,८५

इसमें जिस लोकातिक्रान्त वर्णन को भामह ने अतिशयोक्ति बताया है, उसी को वह—'सैषा सर्वैव वक्रोक्ति' इन वाक्यों से 'वक्रोक्ति' बताता है※ । और वक्रोक्ति को वह यहां तक महत्व देता है कि इसके बिना किसी अलङ्कार को अलङ्कारता ही प्राप्त नहीं हो सकती । भामह की इस कारिका (२।८५) को ध्वन्यालोक की वृत्ति में उद्धृत करके श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है—

'तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्यत्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कार-शरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपेत्यय-मेवार्थोऽवगन्तव्यः' ।

—ध्वन्या० पृ० २०८

इस अवतरण की व्याख्या में श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने (ध्वन्या०लो० पृ० २०८) भामह की उपर्युक्त १।३६ की कारिका उद्धृत करके

※ भामह ने 'वक्रोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है—'एवं चात्रातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्' (काव्यप्र० वालबोधिनी टीका पृ० ९०६) ।

'वक्रोक्ति' शब्द से भामह द्वारा सम्पूर्ण अलङ्कारों का सामान्यतया निर्देश किया जाना एवं अलङ्कारों में लोकोत्तर-अतिशय वर्णन की आवश्यकता बताया जाना, स्पष्ट किया है। अतएव स्पष्ट है कि भामह ने वक्रोक्ति का अतिशय उक्ति अर्थात् लोकोत्तर चमत्कारक वर्णन के अर्थ में प्रयोग किया है और वह वक्रोक्ति को अलङ्कारों का परमावश्यकीय मूल-तत्व बतलाता है।

भामह के बाद दण्डी भी भामह के इस मत से पूर्णतः सहमत दृष्टि-गत होता है। दण्डी ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के—

'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा'।

—काव्यादर्श २।२१४

इस लक्षण में सर्वथा भामह का अनुसरण किया है—भामह ने 'लोकातिरिक्तगोचर' लिखा है और दण्डी ने 'लोकसीमातिवर्तिनी'। इनमें केवल शब्द परिवर्तन मात्र है—अर्थ दोनों का ही समान है। यही नहीं, भामह जिस अतिशयोक्ति के अभाव में किसी भी अलङ्कार में अलङ्कारत्व नहीं स्वीकार करता है, दण्डी उसी अतिशयोक्ति को सम्पूर्ण अलङ्कार वर्ग का एक मात्र परम आश्रयस्थान बताता है—

'अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्'॥

का०द० २।२२०

इसके अतिरिक्त भामह जिस प्रकार वक्रोक्ति की संपूर्ण अलङ्कारों में व्यापकता बताता है और जिसका अलङ्कारों की सामान्य संज्ञा के लिये भी प्रयोग करता है। दण्डी भी—

'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।'

—का० द० २।३६३

इस कारिका में 'वक्रोक्ति' का प्रयोग सामान्यतया सारे अलङ्कारों की संज्ञा के लिये करता है। इस कारिका की हृदयंगम टीका में भी यही व्याख्या की गई है—

'वक्रोतिशब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलङ्कारा उच्यन्ते'। अतः स्पष्ट है कि वक्रोक्ति के विषय में भामह और दण्डी दोनों का एक ही मत है।

ध्वन्यालोक-वृत्ति में श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने—

'यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति-
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्'॥

—ध्वन्या० पृ० ९

यह पद्य उद्धृत किया है। इस पद्य को श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने श्री आनन्दवर्धनाचार्य के समकालीन मनोरथ का बताया है। इस पद्य की व्याख्या में श्री अभिनव ने वक्रोक्ति की यह स्पष्टता की है—

'वक्रोक्तिरुत्कृष्टा संघटना······वक्रोक्तिशून्यशब्देन सर्वालङ्काराभावश्च उक्तः'।

अतएव इस प्राचीन पद्य में भी वक्रोक्ति का प्रयोग भामह और दण्डी के मतानुसार ही किया गया है।

उपर्युक्त प्राचीन साहित्याचार्यों के अतिरिक्त प्राचीन महाकवियों के काव्यों में भी 'वक्रोक्ति' का प्रयोग किया गया है। उनमें वक्रोक्ति का प्रयोग एक विशेष प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य के अर्थ में देखा जाता है। वहां अलङ्कारों के साथ इसका स्पष्टतया कुछ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। जैसे कविराज[1] ने—

'सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इतित्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा'॥

—राघवपाण्डवीय १।४१

इसमें वक्रोक्ति के प्रशंसनीय निपुण कवि सुबन्धु, बाण भट्ट और स्वयं अपने को (कविराज को) बताया है। संभवतः इसमें चमत्कारात्मक विचित्र-रचना के लिये ही 'वक्रोक्ति' का प्रयोग है। महाकवि बाण भट्ट के—

'वक्रोक्तिनिपुणेनाख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण'।

—कादम्बरी पृ० १०६ निर्णयसा० संस्क०

इत्यादि वाक्यों में वक्रोक्ति का प्रयोग क्रीड़ालाप और चातुर्यगर्भित उक्ति के लिये किया गया है। इसी प्रकार अमरुकशतक के—

[1] कविराज का समय ईसा की ८ वीं शताब्दी के लगभग माना गया है। देखो मि० मेकडानल कृत संस्कृत साहित्य के इतिहास का गुजराती अनुवाद पृ० ४२१

'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।'

इस पद्य में संभवतः वक्रोक्ति का प्रयोग वक्र-उक्ति अर्थात् कुछ व्यंग्य-गर्भित उक्ति के अर्थ में प्रतीत होता है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भामह, दण्डी, श्री आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्तपादाचार्य आदि का वक्रोक्ति के विषय में एक ही मत है अर्थात् वे वक्रोक्ति को सारे अलङ्कारों का मूल-तत्व बतलाते हैं। और उपर्युक्त सुबन्धु, वाण, कविराज और अमरुक आदि महाकवियों द्वारा वक्रोक्ति का प्रयोग सामान्यतया अलङ्कार संज्ञा के लिये नहीं किन्तु चातुर्य युक्त या व्यङ्ग्य-गर्भ विचित्र उक्ति के लिये किया गया है।

अच्छा, तीसरी श्रेणी के कुछ साहित्याचार्य वे हैं, जो भामह के सिद्धान्तानुसार वक्रोक्ति की सब अलङ्कारों में व्यापकता के विषय में तो मौन हैं—कुछ नहीं कहते हैं। किन्तु वक्रोक्ति को एक विशेष अलङ्कार बतलाते है। वक्रोक्ति नामक एक शब्दालङ्कार का सर्व प्रथम हमको अग्निपुराण में उल्लेख मिलता है—

'वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्ग्या काकुस्तेनकृता द्विधा।'

—अग्निपु० ३४२।३३

यद्यपि अग्निपुराण में इसकी स्पष्टता उदाहरण देकर नहीं की गई है, किन्तु भोजराज द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण में—जिसमें प्रायः अग्निपुराण का अनुसरण किया गया है, जो उदाहरण दिखलाये

गये हैं, वे अग्निपुराण के मतानुसार हैं। और वहां एक उदाहरण—'किं गौरि मां प्रति रुषा' इत्यादि पद्य रुद्रट का भी लिया गया है। रुद्रट ने वक्रोक्ति के विषय में पूर्णतः अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए वक्रोक्ति को शब्दालङ्कारों का एक विशेष भेद निरूपण किया है। और भोज ने वक्रोक्ति के श्लेष-वक्रोक्ति एवं काकु-वक्रोक्ति यह दो भेद भी अग्निपुराण के अनुसार दिखलाये हैं। भोजराज और रुद्रट ने वक्रोक्ति के यौगिक अर्थ के अनुसार ही वक्रोक्ति का लक्षण लिख कर उदाहरण प्रदर्शित किये हैं। भामह और दण्डी ने वक्रोक्ति को लोकातिरिक्त वर्णनात्मक बतला कर जिसे सारे अलंकारों का प्राण-भूत व्यापक तत्व बताया था, रुद्रट ने अग्निपुराण के अनुसार उसका यौगिक अर्थ—बांकी या टेढी उक्ति अर्थात् 'वक्ता जिस अभिप्राय से वाक्य कहे. उसका अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाय' यह अर्थ-ग्रहण करके वक्रोक्ति को एक विशेष अलंकार में मर्यादित कर दी है। और रुद्रट के पश्चात् आचार्य मम्मट ने भी रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार स्वीकार किया है। यही नहीं रुद्रट और मम्मट ने शब्दालंकारों में सबसे प्रथम वक्रोक्ति को ही लिख कर प्राधान्य दिया है, जिस प्रकार अर्थालंकारों में सर्व प्रधान उपमा को सर्व प्रथम स्थान दिया जाता है। यद्यपि मम्मट ने भामह के वक्रोक्ति विषयक व्यापक सिद्धान्त को भी मान्य किया है*। अर्थात् मम्मट ने वक्रोक्ति का उक्ति-वैचित्र्य अर्थ

* देखिये काव्यप्रकाश विशेषालङ्कार प्रकरण।

ग्रहण करके भामह के मतानुसार वक्रोक्ति की सभी अलंकारों में व्यापकता भी स्वीकार की है और वक्रोक्ति का टेढी उक्ति अर्थ ग्रहण करके रुद्रट के मतानुसार उसे एक विशेष अलङ्कार भी स्वीकार किया है। मम्मट का वक्रोक्ति-विषयक विवेचन उसी प्रकार का है जिस प्रकार भामह और दण्डी ने अतिशयोक्ति की सारे अलङ्कारों में व्यापकता मानते हुए भी अतिशयोक्ति नाम का एक विशेष अलङ्कार भी माना है।

यद्यपि अग्निपुराण के पश्चात् वक्रोक्ति का एक विशेष अलङ्कार के रूप में सर्व प्रथम निरूपक रुद्रट ही नहीं है, रुद्रट के प्रथम वामन ने भी वक्रोक्ति को अर्थालङ्कारों में एक विशेष अलङ्कार निरूपण किया है। किन्तु वामन ने वक्रोक्ति अलङ्कार का 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।' (का०लं० सू० ४।३।८) यह लक्षण लिख कर उसके उदाहरण—

'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवंच निमिमील मूहूर्त्तात्।'

इत्यादि उदाहरण दिये हैं। अर्थात् वामन ने सादृश्यलक्षणा (इसके व्याख्याकार गोपेन्द्रत्रिपुरहर भूपाल के अनुसार साध्यवसाना लक्षणा*) को वक्रोक्ति अलङ्कार बताया है जिसको मम्मट आदि ने अतिशयोक्ति अलङ्कार का एक भेद माना है। वामन का वक्रोक्ति-विषयक

* साध्यवसाना लक्षणा में विषय (उपमेय आदि) का निगीर्ण होकर केवल विषयी (उपमान आदि) का ही कथन होता है।

यह विवेचन भामह और रुद्रटादि सभी से विचित्र है। किन्तु रुद्रट और मम्मट के परवर्ती दोनों वाग्भट, हेमचन्द्र, जयदेव और विश्वनाथ आदि सभी सुप्रसिद्ध आचार्यों ने वक्रोक्ति को रुद्रट के मतानुसार ही एक विशेष अलङ्कार निरूपण किया है। रुय्यक भी मम्मट के अनुसार वक्रोक्ति को एक विशेष अलङ्कार निरूपित करता हुआ भामह के सिद्धान्त को भी स्वीकार करता है और लिखता है—

'वक्रोक्तिशब्दश्चालङ्कारसामान्यवचनोऽपीहालङ्कारविशेषे संज्ञितः

—अलङ्कारसर्वस्व पृ० १७७ काव्यमाला

रुय्यक के स्वीकृत वक्रोक्ति अलङ्कार की स्पष्टता में विमर्षिणीकार ने कहा है—

'वाक्छलात्मकत्वेनोक्तेः कौटिल्यात्।'

—अलङ्कारस० पृ० १७७

अर्थात् विमर्षिणीकार वक्रोक्ति का अर्थ वाक्-छलात्मक उक्ति का कौटिल्य बताता है। संभवतः उपर्युक्त अमरुक के पद्य में भी वक्रोक्ति का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

इनके सिवा हरविजय नामक प्रसिद्ध महाकाव्य के प्रणेता सुप्रसिद्ध महाकवि रत्नाकर ने—जो नवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ है—वक्रोक्तिपञ्चाशिका लिखी है, जिसमें भगवान् श्री शंकर और गिरजा की परस्पर परिहासोक्ति में वक्ता के अभिप्राय को अन्यार्थ में कल्पना करके उत्तर प्रति उत्तर हैं, जैसा कि रुद्रट द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति अलङ्कार के उदाहरणों में दृष्टिगत होता है।

ऊपर के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि अग्निपुराण से आदि लेकर भामहादि सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों एवं महाकवियों द्वारा वक्रोक्ति की सीमा लोकोत्तर चमत्कारक वर्णनात्मक उक्ति-वैचित्र्य या वाक्-छलात्मक उक्ति अथवा यों कहिये अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही सीमा-बद्ध कर दी गई थी। वामन भी वक्रोक्ति को एक अलङ्कार ही स्वीकार करता है यद्यपि वामन का बताया हुआ वक्रोक्ति का लक्षण रुद्रट से भिन्न है।

वक्रोक्ति और कुन्तल

राजानक कुन्तल (या कुन्तक) ने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ में वक्रोक्ति का एकबार ही रूप परिवर्तन कर दिया अथवा यों कहना उपयुक्त होगा कि उसने वक्रोक्ति को काव्य में सर्वोपरि स्थान पर स्थित करने का महान् प्रयत्न किया। यद्यपि जिस लोकोत्तर वर्णन के व्यापक उक्ति वैचित्र्य के अर्थ में भामहादिक ने वक्रोक्ति का प्रयोग किया था, उसी अर्थ में कुन्तक ने भी वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा में यही कहा है—

'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
वक्रोक्तिरेववैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते'॥

—वक्रोक्तिजी० १।१०

इसकी व्याख्या में वह स्वयं कहता है—

'वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्यविच्छित्तिः तया भणितिः विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिः'।

वक्रोक्ति जीवित—पृ० २२

अर्थात् कवि की रचना चातुर्य से शोभित विचित्र उक्ति को वह वक्रोक्ति बताता है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने भी विच्छित्ति और वैचित्र्य का प्रयोग समानार्थ में ही किया है। और इसी प्रकार अभिनवगुप्तपादाचार्य ने भी[1]। कुन्तक ने यह परिभाषा संभवतः राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी के—

'विदग्धभणिति भङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावं'।

—काव्यमी० पृ० ४६

इस वाक्य के आधार पर निर्माण की है।

यद्यपि कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का मूल-श्रोत भामह का वक्रोक्ति विषयक व्यापक सिद्धान्त ही है। किन्तु भामह ने वक्रोक्ति की व्यापकता केवल सम्पूर्ण अलङ्कारों तक ही मर्यादित रक्खी थी। जो वक्रोक्ति के सामर्थ्य के अनुकूल थी। अतएव उस सिद्धान्त को उसके बाद के सुप्रसिद्ध सभी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। परन्तु कुन्तक ने अपने मूलाधार के वलावल पर पूर्णतया विचार न करके उस पर एक असह्य भार का विशाल-भवन निर्माण कर दिया—उसने वक्रोक्ति को ही काव्य का एक मात्र जीवन-सर्वस्व सिद्ध करने की असंभव चेष्टा की, जैसा कि ऊपर दी हुई वक्रोक्ति की परिभाषा में वक्रोक्ति के आगे 'एव' के प्रयोग द्वारा स्पष्ट है। जयरथ ने इसकी स्पष्टता में कहा है—

---

[1] देखिये ध्वन्यालोक व्याख्या पृ० ५,८।

'एवकारोऽन्यस्य काव्यजीवितत्वव्यवच्छेदकः। काव्य-जीवितमिति काव्यस्यानुप्राणकम्। तां विना काव्यमेव न स्यादित्यर्थः'।

—अलं०स० पृ० ८

और कुन्तल ने अपनी इस परिभाषा के अनुसार वक्रोक्ति के—

'कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः संभवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः'॥

—वक्रो०जी० १।१८ पृ० २९

इस प्रकार वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता आदि भेद बता कर, अनु-प्रासादि शब्दालङ्कारों को—

'एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरंतनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्'

—वक्रोक्तिजी० पृ० ३०

'यमकं नाम कोप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।
स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते'॥

—वक्रोक्तिजी० २।७ पृ० ८६

ऐसा कह कर वर्ण विन्यास वक्रता के अन्तर्गत और—

'वाक्यस्य वक्रभावोन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति'॥

—वक्रोक्तिजी० १।२० पृ० ४०

इसके अनुसार उपमादि सब अर्थालङ्कारों को वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत बता दिया है। इसी प्रकार गुण और वृत्तियों का भी वक्रोक्ति में समावेश कर दिया है। केवल अलङ्कार और गुण ही नहीं, रस, भाव और ध्वनि के सम्पूर्ण भेदोपभेद काव्य के सभी विषय कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत समावेश करके वक्रोक्ति की निर्मर्याद व्यापकता प्रतिपादन करने की पर्याप्त चेष्टा की है। कुन्तक द्वारा यह दुःसाहस प्रधानतया ध्वनि-सिद्धान्त को निमूल करने की लालसा से—ध्वनिकार के विपक्ष में उनके साथ स्पर्द्धा करके उनकी महान् प्रतिष्ठा अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त द्वारा ग्रस लेने के लिये किया गया था। क्योंकि कुन्तक ने स्वयं ध्वनि को स्वीकार की है, किन्तु वह कहता है कि काव्य का जीवन व्यंग्यार्थ पर नहीं किन्तु एक मात्र वक्रोक्ति पर ही अवलम्बित है, जो अभिधा का विचित्र वाच्यार्थ है—

'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा'।

—वक्रोक्तिजी० पृ० २२

कुन्तक के मत के निष्कर्ष रूप में रूय्यक ने स्पष्ट यही कहा है—

'उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतएव केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्'।

—अलं०सर्वस्व पृ० ८ त्रिवेंद्रम संस्क०

किन्तु कुन्तक के इस प्रयत्न का फल सर्वथा विपरीत हुआ—वक्रोक्ति सिद्धान्त द्वारा ध्वनि सिद्धान्त कुछ भी विचलित न हो सका,

किसी भी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत कुन्तक के इस मत की आलोचना में सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने इसका निरादर किया है। प्रथम तो रुय्यक और रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने (अलं०सर्वस्व पृ० ८) और समुद्रबंध ने (अलं०सर्वस्व पृ० ८ त्रिवेन्द्र०) इस पर आक्षेप किया है। फिर विश्वनाथ ने भी निरादर किया है। अस्तु, ऐसी परिस्थिति में हमारे विचार में कुन्तक के वक्रोक्ति विषयक विवेचन को केवल एक विशेष सिद्धान्त मात्र ही कहना उपयुक्त है, वस्तुतः देखा जाय तो भामह के प्रतिपादित वक्रोक्ति के व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत होने के कारण 'वक्रोक्ति' का अलङ्कार सम्प्रदाय में समावेश हो सकता है न कि स्वतंत्र संप्रदाय। क्योंकि संप्रदाय की उपाधि का अधिकार तो उसी अवस्था में प्राप्त हो सकता है, जब कि कोई भी सिद्धान्त परम्परा रूप से स्वतंत्र प्रचलित हो जाय। किन्तु कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त केवल उसके 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ में ही नाम मात्र को शेष रह गया है।



ध्वनि सम्प्रदाय (School)

ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्व प्रथम ग्रन्थ रूप में अज्ञात-नामा ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा (जो कि क्रमशः ध्वन्यालोक की कारिका और वृत्ति के प्रणेता हैं) किया गया है। यद्यपि उनके—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः'।

—ध्वन्या० १।१ पृ० २

इत्यादि वाक्यों द्वारा विदित होता है कि ध्वनि विषय का निरूपण इनके पूर्व भी विद्वानों द्वारा किया गया है। किन्तु उपर्युक्त कारिकांश की व्याख्या में अभिनवगुप्तपादाचार्य के

'विनाऽपिविशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः'।

—ध्वन्या०लो० पृ० ३

इस वाक्य द्वारा स्पष्ट है कि ध्वनि-सिद्धान्त का स्वतंत्र ग्रन्थ रूप में ध्वनिकार के प्रथम किसी भी आचार्य द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया था। अतएव ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक ध्वनिकार और श्री आनन्द-वर्धनाचार्य ही माने जा सकते हैं।

सबसे प्रथम यह स्पष्ट किया जाना आवश्यक है—

ध्वनि क्या पदार्थ है

संक्षिप्त में यह कह सकते हैं कि काव्य में वाच्य-अर्थ और लक्ष्य-

अर्थ के अतिरिक्त एक तीसरा अर्थ—जिसकी व्यंग्यार्थ संज्ञा है, वह—व्यंग्यार्थ जहां वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की अपेक्षा प्रधान होता है उसी काव्य को ध्वनि कहते हैं। वाचक और लक्षक शब्द एवं इनका वाच्यार्थ (या मुख्यार्थ) और लक्ष्यार्थ तथा इनको बोध कराने वाली अभिधा और लक्षणा शक्ति (या वृत्ति) का तो न्याय और वेदान्तादिक प्रायः सभी शास्त्रों में स्वीकार किया गया है। और व्याकरण शास्त्र में यद्यपि व्यञ्जक शब्द, व्यंग्यार्थ एवं व्यञ्जना शक्ति का भी स्वीकार किया गया है, पर व्याकरण शब्द-प्रधान शास्त्र होने के कारण व्याकरण में व्यंग्यार्थ और व्यञ्जना वृत्ति को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है। किन्तु ध्वनिकारों ने काव्य में व्यञ्जक-शब्द और उसका व्यङ्ग्य अर्थ एवं उसको बोध कराने वाली व्यञ्जना शक्ति को परमावश्यक बतला कर व्यञ्जना का प्राधान्य स्थापन किया है। क्योंकि काव्य में मुख्य पदार्थ रस है, और रस की विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों द्वारा ही अभिव्यक्ति होती है—जैसा कि 'रस' संप्रदाय के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है—किन्तु वह अभिव्यक्ति वाच्यार्थ ❀ और लक्ष्यार्थ ⁂ द्वारा नहीं हो सकती। क्योंकि रस और

❀ वाच्यार्थ वह होता है, जिसका शब्द के सुनने मात्र से सरलता से बोध हो जाता है। इसको मुख्यार्थ, अभिधेयार्थ भी कहते हैं।

⁂ 'लक्ष्यार्थ' होता है, वह वाच्यार्थ की तरह शब्द के पढ़ने मात्र से उपस्थित नहीं हो सकता किन्तु जब मुख्यार्थ का बाध

भाव आदि न तो शब्द द्वारा उनके नाम कहने मात्र से ही अभि-व्यक्त हो सकते हैं, और न उन नामों के वाच्यार्थ समझने मात्र से ही। यदि शृङ्गारादि रसों के नाम कह देने मात्र से वे—शृङ्गारादि रस—अभिव्यक्त हो सकते तो उनके नाम मात्र के सुनने से ही आनन्द प्राप्त हो सकता था, किन्तु प्रत्यक्ष है कि शृङ्गार-शृङ्गार चाहे हजार

अर्थात् जब मुख्यार्थ असंभव हो या मुख्यार्थ द्वारा वक्ता का अभिप्राय न निकलता हो, तब रूढ़ि या प्रयोजन के कारण वह (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है। और लक्ष्यार्थ वही ग्रहण किया जा सकता है, जिसका मुख्यार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध हो। जैसे 'गङ्गायां घोषः'-'गङ्गा में घोष'। इसका मुख्यार्थ तो 'गङ्गाजी में घोष (चरवाहों के रहने का ग्राम) है। किन्तु गङ्गाजी की धारा में घोष का होना असंभव है, इसलिये यहां इस मुख्य अर्थ का बाध है, अतएव यहां 'गङ्गा' शब्द के 'प्रवाह' अर्थ का बाध होने के कारण 'गङ्गाजी का तट' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, क्योंकि तट पर ही घोष का होना संभव है। और 'तट' रूप लक्ष्यार्थ का 'प्रवाह' रूप मुख्यार्थ के साथ सामीप्य (प्रवाह के समीप होना) संबन्ध है। और प्रयोजन यहां यह है अर्थात् ऐसा प्रयोग इसलिये किया गया है कि वक्ता को अपने निवास स्थान की पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना अभीष्ट है। क्योंकि जैसी शीतलता और पवित्रता 'गङ्गा' कहने से सूचित होती है, वैसी 'तट' कहने से सूचित नहीं हो

वार पुकारा जाय, किसी को कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है, इसी से ध्वनिकारों ने कहा है—

'नहि केवल शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादि प्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति'।

—ध्वन्या० पृ० २५

इसी प्रकार शृङ्गार आदि शब्दों के वाच्यार्थ के ज्ञान द्वारा भी कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव सिद्ध है कि वाचक शब्द या अभिधा शक्ति के व्यापार वाच्यार्थ द्वारा रस की प्रतीति नहीं हो सकती, और न लक्ष्यार्थ द्वारा ही, क्योंकि लक्ष्यार्थ तो तभी उपस्थित हो सकता है, जब मुख्यार्थ का बाध अर्थात् तात्पर्य की अनुपपत्ति हो। किन्तु रस की प्रतीति में मुख्यार्थ का बाध अर्थात् तात्पर्य की अनुपपत्ति भी नहीं अतः रस की प्रतीति लक्षणा के व्यापार लक्ष्यार्थ द्वारा भी नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि रसादि की प्रतीति जिसके द्वारा हो सकती है, वह अभिधा के वाच्यार्थ

सकती। बस यहां जो यह प्रयोजन बतलाया गया है, वही व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ अर्थात् 'पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना' न तो वाच्यार्थ द्वारा ही बोध हो सकता है और न लक्ष्यार्थ द्वारा जाना जा सकता है किन्तु वह केवल व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ध्वनित होता है अतः वह व्यंग्यार्थ कहा जाता है। इसकी अधिक स्पष्टता हमने काव्यकल्पद्रुम के तृतीय संस्करण के प्रथम भाग रसमञ्जरी में की है।

और लक्षणा के लक्ष्यार्थ से भिन्न कोई अन्य ही अर्थ है। और वह व्यञ्जना-वृत्तिके व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं हो सकता।

व्यञ्जना का शब्दार्थ

व्यंग्यार्थ को बोध कराने वाली शक्ति को व्यञ्जना इसलिये कहते हैं, कि 'अञ्जन' शब्द के 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यञ्जन' बनता है। जिस प्रकार नेत्रों के लगाने का अञ्जन अस्फुट (अप्रकट) वस्तु को स्फुट (प्रकट) करता है, उसी प्रकार यह व्यञ्जना (एक प्रकार का विशेष अञ्जन) है, यह अभिधा और लक्षणा द्वारा बोध नहीं होने वाले अस्फुट अर्थ व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति है[1]। बस, इसीलिये ध्वनिकारों ने व्यंग्यार्थ और व्यञ्जना-वृत्ति का काव्य में स्वीकार किया जाना आवश्यक बतलाया है।

[1] शब्द के अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति को 'वृत्ति' कहते हैं। कारण जिसके द्वारा कार्य करता है वह 'व्यापार' कहा जाता है—जैसे घट के बनाने में मिट्टी, कुम्हार, दण्ड और चाक कारण है, घट कार्य है और 'भ्रमि' (चाक को मण्डलाकार फिराने की क्रिया) व्यापार है। इसी प्रकार 'शब्द' कारण है अर्थ का बोध कराया जाना कार्य है और अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार हैं।

काव्य में सारभूत आनन्द-प्रद पदार्थ रस ही है अतएव रस को अभिव्यक्त करने वाले व्यंग्यार्थ को ही ध्वनिकारों ने सर्वोच्च स्थान दिया जाना उचित समझा और ऐसा ही समझा जाना उचित भी था। यद्यपि भरत-सूत्र के व्याख्याकार भट्ट नायक ने रस की निष्पत्ति 'भावना' और भोग व्यापार द्वारा बतलाई है, किन्तु भावना और भोग का अन्ततोगत्वा ध्वनि-सिद्धान्त में ही समावेश हो जाता है। भट्ट नायक के मत की आलोचना में श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है—

भोगीकरणव्यापारश्च ·· ·······भावकत्वमपि····· इति त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोपि··· लोकोत्तरोध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः'

—ध्वन्या०लोचन पृ० ७०

व्यंग्यार्थ की प्रधानता प्रतिपादन करते हुए श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

'व्यंग्यव्यञ्जकाभ्यामेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम् न वाच्यवाचकरचनामात्रेण'।

—ध्वन्या० पृ० ३१

इस प्रकार व्यंग्यार्थ का महत्व प्रतिपादन करके उन्होंने व्यंग्यार्थ को ध्वनि संज्ञा इसलिये प्रदान की कि व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ * ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः' ॥

— ध्वन्या० १।१३ पृ० ३३

व्यङ्ग्यार्थ भी कहीं तो वाच्यार्थ से प्रधान होता है और कहीं गौण अतः जहां वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है, वहां ही उसे 'ध्वनि' की संज्ञा प्राप्त हो सकती है—

'मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा' ।

ध्वन्या० पृ० ६४

बस, ध्वनि के स्वरूप की संक्षिप्त में यही स्पष्टता है ।

ध्वनि की व्यापकता

ध्वनि-सिद्धान्त ने साहित्य क्षेत्र में एक बार ही नवीन युग परिवर्तन कर दिया । इसके प्रथम काव्य में सर्वोच्च स्थान के विषय में रस, अलङ्कार, रीति (अथवा गुण) सम्प्रदायों में जो परस्पर संघर्षण हो रहा था—विभिन्न आचार्य अपने-अपने सिद्धान्त की प्रधानता स्थापन करने की यथेष्ट चेष्टा कर रहे थे, किन्तु ध्वनि-सिद्धान्त ने अपने महत्व से उन सभी को पराभूत कर दिया । ध्वनिकारों ने ध्वनि के

* जहां वाच्यार्थ और वाचक शब्द अपने अर्थों को गौण (अप्रधान) बना कर उस अर्थ को (व्यंग्यार्थ को) ध्वनित करते हैं वह ध्वनि है ।

भिन्न-भिन्न भेद और उनके उपभेद विषय-क्रम से निरूपित करके अपने पूर्व के प्रचलित सभी सिद्धान्तों का ध्वनि-काव्य में समावेश करते हुए काव्य के विशाल क्षेत्र में एक मात्र ध्वनि का ही सर्वत्र साम्राज्य स्थापन कर दिया—अन्य सिद्धान्तों को प्रायः माण्डलिक राजाओं के समान ध्वनि के आश्रित एवं परिमित सीमा-बद्ध बना दिया। उन्होंने अपने इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का साम्राज्य किस प्रकार गम्भीर विवेचन के साथ स्थापन किया है, उसका भी संक्षिप्त दिक्‌दर्शन यहां कराया जाना हम आवश्यक समझते हैं।

ध्वनि की व्यापकता और उसके भेद

शब्द की अभिधा और लक्षणा जो पूर्व प्रचलित वृत्तियां थीं, उन्हीं के अनुसार ध्वनिकारों ने ध्वनि को प्रथम दो प्रधान भेदों में विभक्त किया है—अभिधा-मूला-ध्वनि और लक्षणा-मूला-ध्वनि। अर्थात् विवक्षितअन्यपरवाच्य-ध्वनि, और अविवक्षितवाच्य ध्वनि। इनमें लक्षणा-मूला-ध्वनि के अन्तर्गत, लक्षणा में जो प्रयोजन रूप चमत्कार रहता है उसे प्रत्यक्षतया अकाट्य युक्तियों द्वारा व्यङ्ग्यार्थ सिद्ध करके, उसका समावेश कर लिया और अभिधा-मूला-ध्वनि के दो भेद निरूपण किये—एक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि—

'स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः'।

ध्वन्या पृ० ६४

इन दोनों में पहिले भेद—

असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनि

में ऐसी काव्य-रचना का समावेश किया गया है जिसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम न जाना जाय। अर्थात् इस 'ध्वनि' के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति और भावशवलता आदि सभी रस-विषय का समावेश किया गया है—

'रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः'।

—ध्वन्या० २।३

रस विषय को असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य इसलिये माना गया कि विभावादि द्वारा जो रस की प्रतीति होती है, उसमें पूर्वापर का क्रम प्रतीत नहीं होता। यद्यपि प्रथम विभाव तदनन्तर अनुभाव एवं व्यभिचारियों की प्रतीति के बाद ही रस की प्रतीति होती है अतः पूर्वापर क्रम तो वहां भी है, पर रस के आनन्दानुभाव में वह—पूर्वापर क्रम शतपत्र-पत्र भेदन न्याय के अनुसार प्रतीत नहीं हो सकता अर्थात् जिस प्रकार कमल के एक सौ पत्तों पर सूई से छिद्र किये जाने पर, वे पत्ते यद्यपि क्रमशः—एक के बाद दूसरे—सूई से छेदन होते हैं, पर वह कार्य इतना शीघ्र होता है, जिससे उनका पूर्वापर क्रम जाना नहीं जा सकता इसी प्रकार रसास्वाद के समय भी विभावादि का क्रम प्रतीत नहीं हो सकता। यदि इसमें सर्वथा क्रम न होता तो यह अक्रम-व्यङ्ग्य

कहा जाता, न कि असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। असंलक्ष्यक्रम कहने का तात्पर्य ही यह है कि क्रम अच्छी प्रकार न जाना जाय। इस प्रकार ध्वनिकारों ने काव्य के सर्वोपरि आस्वादनीय पदार्थ रस विषय का तो अभिधा-मूला ध्वनि के प्रथम भेद असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में समावेश कर दिया। और रीति-सिद्धान्त तो ध्वनि के अन्तर्गत स्वयं सिद्ध है, क्योंकि रीतियां गुणों पर निर्भर हैं और गुण रस के धर्म हैं और रस व्यंग्यार्थ हैं ही। इसीलिये ध्वनिकारों ने रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तकों की आलोचना भी की है †। और दूसरे भेद—

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि

में काव्य की ऐसी रचना का समावेश किया गया है जिसमें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का पूर्वापर क्रम जाना जाय अर्थात् जहां वाच्यार्थ का प्रथम ज्ञान होने के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती हो, जैसे घडावल के बजने पर प्रथम जोर का टंकार होता है, फिर उसमें से झंकार निकलती है—मधुर-मधुर ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार घडावल के टंकार के समान प्रथम वाच्यार्थ का बोध हो जाने के बाद व्यङ्ग्यार्थ की ध्वनि निकलती है। इस—संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के उन्होंने प्रधान दो भेद निरूपण किये हैं—अलङ्कार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि। अलङ्कार-ध्वनि में अलङ्कारों का समावेश किया गया

† देखिये ध्वन्यालोक ३।५२,५३ की कारिका और वृत्ति पृ० २३१।

है। ध्वनिकारों ने अलङ्कारों की दो अवस्था स्पष्ट की है—एक तो वाच्यार्थ से बोध होने वाले अलङ्कार—जैसा कि ध्वनिकारों के पूर्ववर्ती भामहादिकों ने जिस स्वरूप में अलङ्कार प्रदर्शित किये हैं। और दूसरी अवस्था वह, जहां वाच्यार्थ में अलङ्कार बोध न होकर व्यङ्ग्यार्थ द्वारा ध्वनित होते हैं जैसे—

'दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेवरघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे'॥

—रघुवंश

'दक्षिण दिशा में जाने पर (दक्षिणायन होने पर) सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, किन्तु उसी (दक्षिण) दिशा में रघु का प्रताप पांड्य देश के राजाओं से न सहा गया'। इस पद्य के वाच्यार्थ में कोई अलङ्कार नहीं, किन्तु इस वाच्यार्थ के बोध होने के बाद इसमें यह ध्वनि निकलती है कि रघु का प्रताप, सूर्य के ताप से भी अधिक है अतः यहां व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनित होता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनित होने वाले अलङ्कारों को तो ध्वनि का विषय माना ही गया है। इसके सिवा ध्वनिकारों ने वाच्यार्थ-भूत अलङ्कारों का भी अधिक चमत्कार ध्वनि के आश्रित ही बतलाया है—

'वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां विभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते'॥

—ध्वन्या० ३।३७ पृ० २०७

अच्छा, रस और अलङ्कारों के अतिरिक्त अब रहा ऐसा काव्य, जिसमें रस और अलङ्कार स्पष्टतया न हो, उसका ध्वनिकारों ने उपर्युक्त वस्तु ध्वनि में समावेश कर दिया है। निष्कर्ष यह है कि ध्वनि-कारों ने काव्य में सर्वत्र ध्वनि की व्यापकता सिद्ध कर दी है। उनके विषय प्रतिपादन से स्पष्ट है कि काव्य का न्यूनाधिक महत्व व्यङ्ग्यार्थ के न्यूनाधिक्य पर ही उनको स्वीकृत है। यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यों तो प्रायः प्रत्येक वाक्य में किसी न किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ निकल सकता है, किन्तु सर्वत्र ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता, अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है—

'तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः'।

—ध्वन्या०लोचन पृ० २८

किन्तु जिस व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार हृदयग्राही हो वही ध्वनि-काव्य कहा जा सकता है। व्यंग्यार्थ का अनुभव व्याकरणादि शास्त्रों के ज्ञान मात्र से नहीं हो सकता किन्तु उसका आनन्दानुभव काव्य-मर्मज्ञ सहृदय जन ही कर सकते हैं †। ध्वनि-कारों ने सर्व प्रथम ध्वनि के उदाहरण में श्री महावाल्मीकीय रामायण के—

'मां निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्'॥

इस पद्य का निर्वाचन किया है। और इसमें जो व्यंग्यात्मक करुण रस है, उसी को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है—

† देखो ध्वन्यालोक कारिका १।७ पृ० २९।

'काव्यस्यात्मा सएवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः'॥

—ध्वन्या० १।५

इस श्लोक का—'शोकः श्लोकत्वमागतः' यह अंश महाकवि कालिदास के—'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'। (रघुवंश १४।७०) इस वाक्य का संक्षिप्त रूप है। विदित होता है कि इस वाक्य द्वारा महाकवि कालिदास ने ध्वनि सिद्धान्त का मार्ग पहिले ही प्रदर्शित कर दिया था।

रस के अतिरिक्त ध्वनि के भेदों में उपर्युक्त वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि का भी अन्ततोगत्वा रस में ही पर्यवसान है †। यही क्यों श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि श्रेष्ठ कवियों को रस से असंबद्ध कविता की रचना ही शोभा-प्रद नहीं ‡ कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनिकारों ने ध्वनि-सिद्धान्त में रस को ही मुख्य स्वीकार किया है। ध्वनि-सिद्धान्त का मूल-तत्व यद्यपि अधिकांश में रस पर अवलम्बित है किन्तु ध्वनि-सिद्धान्त का रस-सिद्धान्त में समावेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि ध्वनि का विषय केवल रस ही नहीं किन्तु वस्तु और अलङ्कार ध्वनि भी है, जैसा कि ऊपर के विवेचन द्वारा स्पष्ट है।

यद्यपि यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब ध्वनिकारों ने काव्य का आत्मा ध्वनि को बताया है, तो फिर उन्होंने—

† देखो ध्वन्या० पृ० २७।

‡ देखो ध्वन्या० पृ० २२१।

'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते'।

—ध्वन्यालोक ३।४२

इस कारिका में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के अतिरिक्त चित्र अर्थात् वाच्यार्थ रूप अलङ्कारों का एक तीसरा भेद क्यों स्वीकार किया? इसका समाधान यह है कि ध्वनिकारों को ध्वन्यात्मक काव्य के लिये ही मुख्यतया 'काव्यत्व' का व्यवहार अभीष्ट है। उपर्युक्त कारिका की वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि वाच्यार्थ रूप अलङ्कारात्मक रचना का काव्य मुख्य नहीं। ध्वनिकारों का कहना है कि—

'रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः।'

ध्वन्यालोक पृ० २२१

अर्थात् अलङ्कारात्मक रचना में भी रस आदि व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति रहती है किन्तु ऐसी रचना में कवि का उद्देश्य रस आदि व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार पर नहीं रहता किन्तु वाच्यार्थ के अलङ्कारों का चमत्कार प्रदर्शित करना ही कवि को अभीष्ट होता है। अतएव अलङ्कारात्मक रचना में नीरसता केवल कल्पना मात्र है।

ध्वनि सिद्धान्त और आचार्य मम्मट

ध्वनिकार के स्वीकृत सभी सिद्धान्तों को उनके परवर्ती प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने मान्य किया है। ध्वनि-सिद्धान्त के

प्रवर्तक सुप्रसिद्ध ध्वनिकार और आनन्दवर्धनाचार्य के बाद ध्वनिसम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य, आचार्य मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ उल्लेखनीय हैं। इनमें भी मुख्यतया आचार्य मम्मट का स्थान सर्वोच्च है। यद्यपि मम्मट का ध्वनि–विषयक विवेचन ध्वन्यालोक और उसकी व्याख्या लोचन पर अवलम्बित अवश्य है, किन्तु काव्यप्रकाश की गवेषणा-पूर्ण विवेचन शैली ऐसी महत्वपूर्ण है, जो ध्वन्यालोक से भी किसी अंश में अधिक उपयोगी कही जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों का यदि काव्यप्रकाश में अकाट्य और प्रामाणिक युक्तियों द्वारा पर्याप्त खण्डन न किया जाता तो संभव था कि वाद के सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य ध्वनि-सिद्धान्त से ऐसे प्रभावान्वित न हो सकते, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि बाद के आचार्यों के ग्रन्थों में काव्यप्रकाश का ही अनुसरण प्रायः दृष्टिगत होता है।

ध्वनि सिद्धान्त के विरोधियों का खण्डन

प्रायः विषय-विशेष के नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार तो होते ही रहते हैं, पर वे कहां तक उपयुक्त और दृढ़-मूल हैं, इसका निर्णय तभी हो सकता है, जब वे परीक्षा की कसौटी पर कसे जाते हैं। कहा है—

‘हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।’

अतएव ध्वनि-सिद्धान्त भी यदि परीक्षोत्तीर्ण न हुआ होता तो उसे

एतादृश सर्व-मान्य प्रतिष्ठा कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। ध्वनि-सिद्धान्त का इसके कट्टर विरोधियों के साथ घोर संघर्षण ही केवल नहीं हुआ, किन्तु विरोधी विद्वानों द्वारा इसका सर्वथा मूलोच्छेद करने के लिये इस पर बहुत से प्रखर कुठाराघात भी किये गये थे। जैसा कि विमर्शनीकार जयरथ ने—

"तात्पर्यशक्तिरभिधालक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तंत्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः"॥

—अलङ्कारसर्वस्व विमर्शनी टीका पृ० ९

यह उद्धरण देकर बताया है। प्रथम तो भट्ट नायक ने—उसी भट्ट नायक ने जिसका मत—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

इस भरत सूत्र के चार व्याख्याकारों की तीसरी संख्या में काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है—हृदयदर्पण ग्रन्थ में रस विषयक अपने मत के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धान्त को विध्वंस करने की चेष्टाकी है। यद्यपि हृदयदर्पण अप्राप्य है किन्तु ध्वन्यालोक पर श्री अभिनव-गुप्तपादाचार्य की लोचन व्याख्या में [१] और हेमचन्द्र के काव्यानु-

१ देखिये ध्वन्यालोक लोचन व्याख्या पृ० ९,१९,२०,२७

शासन [1] एवं अलङ्कारसर्वस्व पर जयरथ कृत विमर्शनी [2] में भट्ट नायक के ध्वनि-विरोधी बहुत से उद्धरण हृदय-दर्पण से उद्धृत करके उनका खण्डन किया गया है जिनके द्वारा विदित होता है कि भट्ट नायक ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपक्षी था। भट्ट नायक ने रस-ध्वनि स्वीकार की है और वस्तु-ध्वनि का खण्डन किया है, लोचनकार श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लिखा है—

'किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्टुतरां ध्वनिध्वंसोयम्।'

—ध्वन्यालोक लोचन पृ० २०

इस वाक्य के बाद लोचनकार ने भट्ट नायक पर मृदु-कटाक्ष करते हुए लिखा है—

'क्रोधोऽपिदेवस्य वरेणतुल्यः।'

—लोचन पृ० २०

भट्ट नायक के इस मत की श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य और मम्मट [3]

१ देखिये काव्यानुशासन पृ० ६४-६६

२ देखिये अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शनी पृ० ९-१२

३ मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चमोलास में ध्वनि—व्यञ्जना का प्रतिपादन करते हुए ध्वनि-सिद्धान्त के सभी विरोधियों के मत का खराडन किया है किन्तु नामोल्लेख किसी का भी नहीं है।

आदि ने सयुक्तिक आलोचना करके उसके मत को निस्सारप्रमाणित कर दिया है।

भट्ट नायक के बाद उद्भटाचार्य के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की व्याख्या में प्रतिहारेन्दुराज ने भी ध्वनि को अलङ्कारों के अन्तर्गत बता कर ध्वनि-सिद्धान्त पर आक्षेप किया है [१]। फिर राजानक कुन्तल ने तो वक्रोक्तिजीवित में अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धान्त को ग्रस लेने की पूर्णतः चेष्टा की है। जयरथ ने कुन्तल के मत[२] के निष्कर्ष में कहा है—

'उपचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूतः सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चो वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृतः।'

—अलङ्कारसर्वस्व विमर्शनी पृ० ८

कुन्तक के बाद व्यक्ति-विवेककार महिम भट्ट ने अपने अनुमान सिद्धान्त में ही इसे समावेशित करने का दुःसाहस यहां तक किया है कि उसने भी व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ ही ध्वनि सिद्धान्त के विरुद्ध लिख डाला है। और उसमें उसने यह प्रतिज्ञा की है—

'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेःप्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमापरां वाचम्'॥

१ देखिये काव्यालङ्कारसंग्रह भंडारकर पूना संस्करण पृ० ८४-९२

२ कुन्तक के मत पर अधिक विवेचन आगे वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया गया है।

महिम भट्ट का मत यह है कि ध्वनि-सिद्धान्त का विशाल-भवन जिस व्यञ्जना के मूलाधार पर निर्माण किया है, वह व्यञ्जना कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, किन्तु पूर्व-सिद्ध 'अनुमान' ही है। अनुमान में साधन* से साध्य का † अनुमान किया जाता है। जैसे पर्वत पर धूंआ होने पर वहां अग्नि का अनुमान किया जाता है। उसमें पर्वत पर अग्नि होना सिद्ध करने में धूंआ ही साधन है अर्थात् कारण है। क्योंकि जहां धूंआ होता है, वहां अग्नि अवश्य होता है। महिम भट्ट कहता है कि इसी प्रकार जिसे 'व्यञ्जक' कहा जाता है (जिसके द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होना बताया जाता है) वह उसी प्रकार, व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का कारण है, जिस प्रकार 'धूंआ' अग्नि के अनुमान का कारण है। और जिसे 'व्यङ्ग्यार्थ' कहा जाता है, वह उसी प्रकार अनुमान का विषय है, जिस प्रकार अग्नि। बस इसी युक्ति के आधार पर महिम भट्ट ने ध्वनिकार द्वारा प्रदर्शित ध्वनि के अनेक उदाहरणों में 'अनुमान' प्रतिपादन किया है। एक उदाहरण देखिये—

'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन' ॥

---

* साधन कहते हैं हेतु (या लिङ्ग) को अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान सिद्ध होता है।

† साध्य (या लिङ्ग) उसे कहते हैं, जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो अर्थात् जिसका अनुमान किया जाय !

एक कुलटा स्त्री का गोदावरी तट पर एकान्त कुञ्ज में संकेत-स्थान था। वहां एक धार्मिक पुरुष पुष्प लेने को आया करता था। उसके वहां आने से कुलटा के संकेत में विघ्न होने के कारण, वह उस धार्मिक को तंग करने के लिये एक कुत्ता उसके पीछे लगा दिया करती थी, पर फिर भी उस धार्मिक व्यक्ति ने वहां आना न छोड़ा, तब उस कुलटा स्त्री ने उसको एक दिन उपर्युक्त पद्य में यह कहा है कि—'हे धार्मिक, तू अब निर्भय हो कर यहां भ्रमण कर, क्योंकि जो कुत्ता तुझे तंग किया करता था, उस कुत्ते को आज गोदावरी तट के निकुञ्ज में रहने वाले सिंह ने मार डाला है'। इस पद्य के इस वाच्यार्थ में यद्यपि सिंह द्वारा कुत्ते का मारा जाना बता कर उस कुलटा ने उस व्यक्ति को वहां पर निर्भय भ्रमण करने को कहा है। किन्तु इस पद्य के वाच्यार्थ से जो ध्वनि निकलती है उसके द्वारा उस धार्मिक को वहां भ्रमण करने का निषेध है। क्योंकि कुत्ते से डरने वाले उस धार्मिक को वह कुलटा वहां सिंह का होना कह रही है। इसलिये ध्वनिकार ने इस पद्य को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि के उदाहरण में लिखा है। महिम भट्ट कहता है कि यहां जिस वाच्यार्थ में धार्मिक को वहां निःशङ्क भ्रमण करने को कहा गया है, वही (वाच्यार्थ) वहां पर उस धार्मिक को भ्रमण न करने को कहने का 'हेतु' है। अर्थात् जिस 'भ्रमण के निषेध को' यहां व्यङ्ग्यार्थ कहा गया है, वह व्यञ्जना का व्यापार व्यङ्ग्यार्थ नहीं, किन्तु अनुमेय है अर्थात् उसका (भ्रमण के निषेध का) यहां वाच्यार्थ द्वारा अनुमान हो जाता है। जिस प्रकार पर्वत पर अग्नि का अनुमान करने का वहां

धूंआ होना कारण है, उसी प्रकार यहां धार्मिक को भ्रमण के निषेध करने के अनुमान करने का वहां सिंह का होना कारण है। यह तो हुई महिम भट्ट की दलील। अब आचार्य मम्मट ने ऐसी दलीलों के खण्डन में जो सारगर्भित युक्तियां दी है, वह भी देखिये, आचार्य मम्मट कहते हैं कि इस पद्य में—'भ्रमण के निषेध' रूप अनुमान का हेतु जो वहां सिंह का होना बतलाया जाता है वह हेतु अनैकान्तिक है—व्यभिचारी है, किन्तु अनुमान वहीं हो सकता है जहां अनुमान का हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे पर्वत पर अग्नि का अनुमान करने के लिये पर्वत पर धूंआ का होना जो हेतु है, वह निश्चयात्मक है, क्योंकि जहां निश्चित रूप में धूंआं होगा वही अग्नि होगा। किन्तु 'कुलटा स्त्री द्वारा उस स्थान पर सिंह का होना बताया जाना' यह हेतु उस धार्मिक मनुष्य के वहां भ्रमण न करने का निश्चयात्मक हेतु नहीं, क्योंकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही अन्य किसी विशेष कारण से डरपोक मनुष्य भी भयवाले स्थान पर जा सकता है। अतएव यह हेतु नहीं, किन्तु हेतु का आभास है। इसके सिवा धार्मिक और वीर मनुष्य स्पर्शभय से कुत्ते से डरता हुआ भी वीरत्व के कारण सिंह से नहीं डरता है अतः यहां विरुद्ध हेतु भी है। फिर वहां पर सिंह होने का कोई दृढ़ प्रमाण भी नहीं—उसे बतलाने वाली एक कुलटा स्त्री है, जिसका वाक्य आप्त-वाक्य (सत्यवादी ऋषियों का वाक्य) नहीं—वह अपने एकान्त-स्थल में विघ्न न होने के लिये झूठे भी सिंह का वहां होना कह सकती है (जैसा कि उसने कहा है) अतः सिंह वहां पर है या

नहीं ? यह भी अनिश्चित है अतएव यह हेतु असिद्ध है और जब हेतु ही असिद्ध है, तब ऐसी अवस्था में अनुमान का यहां सिद्ध होना सर्वथा असंभव है। इसी प्रकार मम्मट ने महिम भट्ट के आक्षेपों का समुचित खण्डन करके यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि 'व्यङ्ग्यार्थ' अनुमान का विषय किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु वह (व्यङ्ग्यार्थ) व्यञ्जना शक्ति का व्यापार है।

निष्कर्ष यह है कि ध्वनि-सिद्धान्त इन आक्षेपों से अपने सर्वोच्च स्थान से कुछ भी बिचलित नहीं हो सका, प्रत्युत इसके प्रभाव से विरोधी विद्वानों के मत नाम मात्र शेष रह गये। और कुन्तक और महिम भट्ट की रूय्यक (अलं०स० पृ० ८,१० त्रिवेन्द्रम) और विश्वनाथ (साहित्यदर्पण प्रथम और पंचम परिच्छेद में) जैसे काव्य-मर्मज्ञों ने बडी तीव्र आलोचना की। अतएव सिद्ध होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त प्रखर आलोचनाओं के आघातों से किञ्चित् मात्र भी विचलित न हो कर साहित्य-संसार में अद्यावधि सर्वोच्च महान् स्थान पर स्थित हो रहा है।

यद्यपि कालक्रम के अनुसार वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रथम ध्वनि सम्प्रदाय विवेचनीय है। किन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय का अस्तित्व न रहने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय का सिद्धान्त रूप में सबके बाद विवेचन किया जाना ही उपयुक्त है।



काव्य-दोष

काव्य का दोष-रहित होना परमावश्यक है। इसीलिये अधिकांश आचार्यों ने काव्य के लक्षण में ही 'दोष-रहित' होना कहा है, जैसा कि 'काव्य का लक्षण' निबन्ध में पहिले उद्धृत किये गये काव्य लक्षणों द्वारा स्पष्ट है। अब यह विवेचनीय है कि काव्य में सामान्यतया 'दोष' किसको कहते हैं। अग्निपुराण में तो केवल यही कहा गया है—'उद्वेगजनको दोषः।'—दोष उद्वेग-जनक है। किन्तु इसके द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता है कि उद्वेग-जनक दोष का सामान्य स्वरूप क्या है। इस विषय में आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों के उपलब्ध ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता। संभवतः आचार्य मम्मट ने ही प्रथम दोष का सामान्य लक्षण देना आवश्यक समझा, क्योंकि सामान्य को जाने विना विशेष के जानने की इच्छा नहीं होती है।अतएव मम्मट ने—

दोष का सामान्य लक्षण

'मुख्यार्थहतिर्दोषो।' (काव्यप्रकाश उल्लास ७०।४९) यह लिखा है। अर्थात् मुख्य अर्थ का जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं। उद्देश्य की प्रतीति का विघातक होना ही मुख्यार्थ का अपकर्ष है—

'उद्देश्यप्रतीतिविघातको दोषः।'

—काव्यप्र० वामनाचार्य व्याख्या पृ० ३२०

अर्थात् जिस काव्य में जो उद्देश्य हो उसकी प्रतीति में रुकावट होना। बस दोष का सामान्य लक्षण यही है *।

दोषों की संख्या

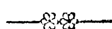
दोषों की संख्या के विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने १० काव्य-दोष लिखे हैं। अग्नि-पुराण में मुख्य तीन दोष और उनके कुछ उपभेद निरूपण किये गये हैं। भामह ने ११ और दण्डी ने १० दोषों का उल्लेख किया है। वामन ने दोषों का निरूपण कुछ अधिक किया है जिसको मम्मटाचार्य ने भी स्वीकार किया है। मम्मट ने दोषों पर बहुत गम्भीरता पूर्वक विचार किया है—काव्यप्रकाश के सबसे बड़े भाग सप्तमोल्लास में दोषों का ही विस्तृत विवेचन किया गया है, जिसमें कालिदास आदि सुप्रसिद्ध अनेक महाकवियों के पद्य दोषों के उदाहरणों में उद्धृत किये गये हैं। विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में अधिक विवेचन किया है किन्तु वह काव्यप्रकाश पर ही अवलम्बित है। अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में भी न्यूनाधिक दोष विषयक निरूपण प्रायः काव्यप्रकाश के आधार पर ही किया गया है। ध्वन्यालोक में रस विषयक दोषों के निरूपण में 'दोष' शब्द के स्थान पर 'अनौचित्य' शब्द का भी प्रयोग करते हुए कहा है—

*** इस विषय पर अधिक विवेचन पहिले 'काव्य का लक्षण' निबन्ध में काव्यप्रकाशोक्त 'काव्य लक्षण' के अन्तर्गत किया गया है।**

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।'

—ध्वन्यालोक पृ० १४५

ध्वन्यालोक का अनुसरण करते हुए महाकवि क्षेमेन्द्र ने इसी विषय पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' लिखा है। क्षेमेन्द्र ने भी इस विषय पर बहुत मार्मिकता से विवेचन किया है। यों तो काव्यप्रकाशकार ने भी दोष विषयक आलोचना सर्वथा निष्पक्षता से की है किन्तु क्षेमेन्द्र स्वयं महाकवि भी था इसने अपनी कृति के उदाहरण जिस प्रकार औचित्य के उदाहरणों में दिखाये हैं उसी प्रकार अनौचित्य के उदाहरणों में भी दिखा कर इसके द्वारा अपने को निष्पक्ष समालोचक सिद्ध किया है। क्षेमेन्द्र के इस कार्य द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समालोचक होने पर भी अपनी कृति को 'दोष' से सर्वथा विमुक्त रखना असम्भव नहीं तो दुष्कर तो अवश्य ही है।



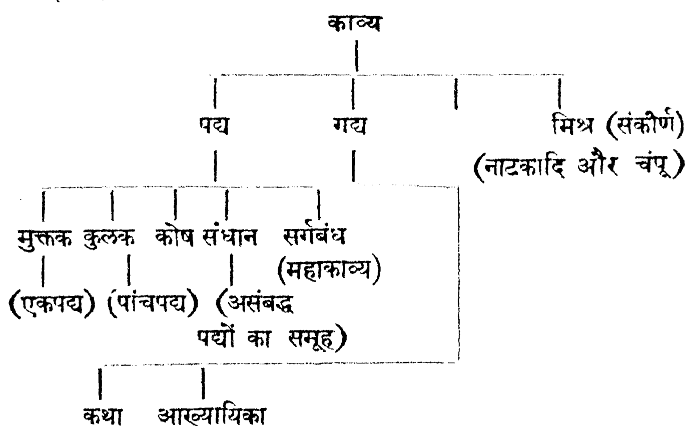
काव्य के विभाग

काव्य का वर्गीकरण साहित्य ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से किया गया है। अग्निपुराण में काव्य के श्रव्य, अभिनेय (दृश्य) और प्रकीर्ण यह तीन भेद बताये गये हैं—

'श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः'

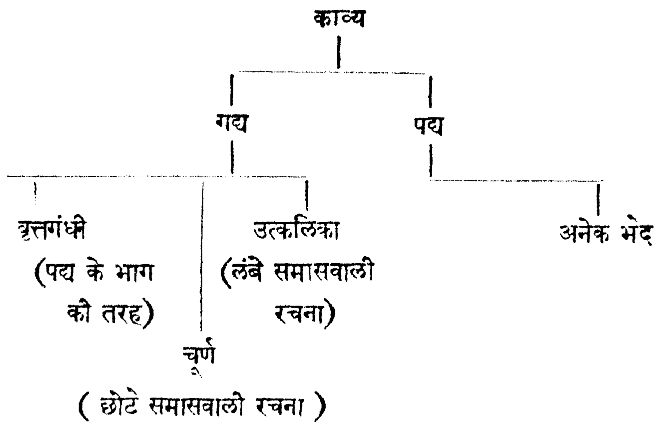
—३३७।३९

भामह ने काव्य को गद्य और पद्य दो भागों में विभक्त करके फिर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश यह तीन भेद बताये हैं, फिर वह देव-चरित, उत्पाद्य वस्तु, कलाश्रय और शास्त्राश्रय यह चार भेद और इनके सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (नाट्य), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध यह पांच भेद बताता है (का०लं० १।१६-१८) और इसके बाद काव्य के इन विभागों की स्पष्टता करता है (का०लं० १९-३०) और दण्डी ने (का०द० १।११) अग्निपुराण के मतानुसार गद्य, पद्य और मिश्रित यह तीन भेद बता कर फिर इन भेदों को—



इस प्रकार विभक्त किया है। उसके बाद वह काव्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र भाषाओं में विभक्त करता है।

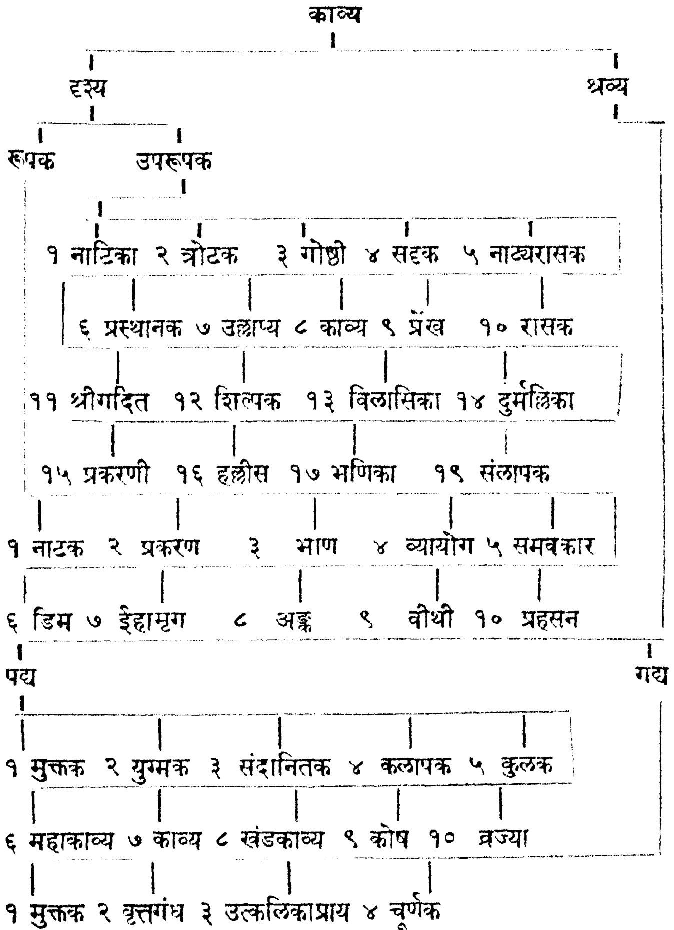
दण्डी के बाद वामन ने (काव्यालङ्कार सूत्र १।३।२१।२९) काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—



रुद्रट ने काव्य के गद्य और पद्य (छन्दोबद्ध) दो भेद बतला कर उनको प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शूरसेनी और अपभ्रंश इन छः भाषाओं में विभक्त किया है।

हेमचन्द्र ने काव्य को प्रेक्ष्य (दृश्य) और श्रव्य दो भेदों में विभक्त कर के प्रेक्ष्य को पाठ्य और गेय दो भेदों में और श्रव्य को महाकाव्य, आख्यायिका, चम्पू और अनिबद्ध इस प्रकार चार भेदों में विभक्त किया है और हेमचन्द्र ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश भाषाओं का भी उल्लेख किया है तथा आख्यान आदि को कथा के भेद बताये हैं।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—



काव्य के इन भेदों के आचार्यों ने लक्षण और किसी-किसी ने उदाहरण भी दिखा कर स्पष्टता की है। यहां ग्रन्थ-गौरव भय से केवल नाम मात्र का उल्लेख किया गया है।

पद्यानुक्रमणिका



शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	६	तत्करित	तत्कारित
६	३	वभूवरुर्व्यां	वभूवुरुर्व्यां
१०	९	सदृशमशांश	सदृशमंशाश
१३	११	विधे यस्य	विधेयस्य
१५	२०	श्रमादुपस्या	श्रमादुपास्या
१६	८	चारुण	चारुणः
३०	२	अलंकृती	अनलंकृती क्वापि
३६	४	इदमुत्तममतिशयिने	इदमुत्तममतिशायिनि
३६,१२१	१७	शब्दार्थवनलंकृती	शब्दार्थावनलंकृती
४१	१४	वक्राद्यौचित्य	वक्त्राद्यौचित्य
४५	१६	परस्पर	परंपरा
४८	३	विश्वनाथ ने	विश्वनाथ
५५	१२	सहकारिणि	सहकारीणि
५५	१३	रत्यादे	रत्यादेः
५७	२०	परिवर्तित	परिवर्धित
६५	६	कारणींशे	कारणांशे
८३	२२	आनन्दंकुर	आनन्दांकुर
८४	१०	यथा नाराणां	यथा नराणां
८५	७	अत शान्तो	अथ शान्तो
८५	२०	नाट्यशास्त्र पृ० ३२४,३३	नाट्यशास्त्र पृ० ३३३

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८८	९	वट पक्ष	वट यक्ष
८८	१७	नम्मो तथा	नम्भो यथा
९२	१४	आनंदप्रथयन्त्या मिसंवशन्ति	आनन्दप्रथयन्त्याभि संविशन्ति
११३	१७	रसार्क्ति	रसोक्ति
११६	८	समवाव	समवाय
११७	५	ये रसस्याङ्गितो	ये रसस्याङ्गिनो
११९	१३	देहेन वरयर्णिनि	देहेन वरवर्णिनि
१२१	१६	अलंकृती	अनलंकृती
१२८	३	संकर ०।०।३५। २०1०	संकर ०।०।३५। ०।२०
१२६	१०	अन्योन्य २।२	अन्योन्य २।१
१२९	११	अनुमान ३।१	अनुमान ३।२
१४१	७	१ भेदप्रधान	३ भेद प्रधान
१४२	१४	३ न्याय मूल	२ तर्कन्याय मूल
१४३	१	७ लोकन्यास	७ लोकन्याय
१४८	११	केवलनामास्ति	केवलानामास्ति
१५२	२१	ये रस्यस्याङ्गिनो	ये रसस्याङ्गिनो
१५४	३	अल्हादकत्वं	आल्हादकत्वं
१७५	२०	तस्य विच्छत्तिः	तस्य विच्छित्तिः

